बिदअत की हक़ीक़त

मौलाना आमिर उसमानी (रह.)

अनुवाद

अनुवाद समिति

इस्लामी साहित्य ट्रस्ट

विषय-सूची

प्रकाशक की ओर से

यह किताब 'बिद्अत की हक़ीक़त' जो आपके हाथ में है, दरअस्ल उर्दू किताब 'बिद्अत तौहीद की ज़िद है' का हिन्दी तर्जमा है। इस किताब के लेखक मौलाना आमिर उसमानी रह० (1920-1975 ई०) हैं। मौलाना आमिर उसमानी (रह०) उन इस्लामी विद्वानों और बुज़ुर्गों में से हुए हैं जो मुसलमानों द्वारा अपना लिए गए तरह-तरह के ग़लत रीति-रिवाजों और बिद्अतों के ख़िलाफ़ हमेशा जिद्दोजुहद करते रहे। मौलाना ने अपनी इस जिद्दोजुहद और संघर्ष का बुनियादी जरीआ अपनी लेखनी को बनाया और निरंतर बिद्अत के ख़िलाफ़ लिखते रहे। आपके ये लेख उर्दू मासिक पत्रिका 'तजल्ली' (देवबंद, उ०प्र०) में अकसर छपते रहे। यह किताब बुनियादी तौर पर उन्हीं लेखों का संग्रह है।

ख़ुदा का शुक्र है कि इस्लाम की असल किताब क़ुरआन और उसकी तालीमात महफ़ूज हैं और पैग़म्बर मुहम्मद (सल्ल०) की पाक सीरत (पवित्र-जीवनी) भी पूरे तौर पर महफ़ूज है। इतना ही नहीं पैग़म्बर (सल्ल०) के साथियों यानी सहाबा (रज़ि०) के जीवन-वृंतात भी मौजूद हैं, किन्तु अफ़सोस कि इन सबके बावुजूद इस्लाम के मानने का दावा करनेवालों यानी मुसलमानों में कुछ लोग इस क़द्र गुमराह हो गए हैं कि 'इस्लाम' जिन गुमराहियों, ग़लत रीति-रिवाजों और बेदीनी को मिटाने आया था आज वे उन्हीं गुमराहियों और बिद्अतों के शिकार हो गए हैं। वे उन्हीं अंध—विश्वासों, गुमराहियों और ग़लत रीति-रिवाजों को अपना असल दीन (धर्म) मान बैठे हैं।

हम मुसलमानों को अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि मुसलमानों की ज़िन्दगी का असल मक़सद अल्लाह को राज़ी करना है। अगर हमारा रब हमसे नाराज़ हो गया और हम यूँ ही जिन्दगी गुज़ार कर दुनिया से चले गए तो यह आख़िरत के लिए बड़े ही घाटे का सौदा होगा और आख़िरत में हमारी सख़्त पकड़ होगी। यह हमारी गिरोहबंदियाँ,

तास्सुबात और ग़लत-सलत दलीलें और बहसें वहाँ कुछ काम नहीं आ सकेंगी। अगर काम आएगा तो सिर्फ़ यह कि क़ुरआन और पैग़म्बर (सल्ल०) की तालीमात पर हमने कितना अमल किया। लिहाज़ा आज ही हर तरह के फ़रेब से मुक्त होकर हम अपनी आँखें खोलें और गिरोहबंदियों और तास्सुबात से बाहर निकलकर क़ुरआन और हदीस की ख़ालिस तालीमात पर अमल करने के लिए कमरबस्ता हो जाएँ। इसके साथ ही समाज में मौजूद तरह-तरह के गलत रीति-रिवाजों और बिद्अतों को रोकने और मिटाने में एक-दूसरे का साथ दें।

इस किताब में खालिस क़ुरआन और हदीस की रोशनी में गुफ़्तगू की गई है और पूरी कोशिश की गई है कि लोगों तक क़ुरआन और हदीस की तालीम पहुँच सके।

लेखक ने इसकी भी पूरी कोशिश की है कि किसी भी गरोह के स्वाभिमान और इज़्ज़तेनफ़्स को चोट न पहुँचे। इसके बावजूद अगर किसी को कोई तकलीफ़ पहुँचती है या वह महसूस करता है तो हम उनसे माफ़ी चाहते हैं। क्योंकि इस किताब के प्रकाशित करने का असल मकसद इस्लाम की ख़ालिस तालीमात से उसके माननेवालों को आगाह करना और बिद्अतों से रोकना है, न कि किसी पर तनकीद या चोट करना। किताब के प्रूफ़ पर भी ख़ास ध्यान दिया गया है। इसके बावजूद अगर किसी पाठक को कोई ग़लती मिलती है तो हमारी गुज़ारिश है कि वे हमें उससे आगाह करें। ताकि सुधार कर सकें।

ख़ुदा से दुआ है कि इस किताब को अपने दीन (धर्म) की असल तालीमात को फैलाने और ग़लत रीति-रिवाजों व बिद्अतों को मिटाने का ज़रीआ साबित करे और साथ ही तौहीद के मानने का दावा करनेवालों में भाईचारगी पैदा करने का साधन सिद्ध करे। (आमीन)

प्रकाशक

'बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम'

शुरू अल्लाह के नाम से जो बड़ा महरबान, बहुत रहमवाला है।

बिदअत की हक़ीक़त

तौहिद (ऐकेश्वरवाद) एक सादा-सा शब्द है। इसका अर्थ क्या है और इससे मुराद क्यां है, इस बात को हर कोई जानता है। लेकिन अगर इल्म और अक़्ल की रौशनी में देखा जाए तो यही सादा-सा शब्द अपनी हक़ीक़त, नतीजे और तक़ाज़े के एतिबार से तमाम इनसानी दुनिया के लिए इतना महान और क़ीमती है कि इसी पर उसकी दुनिया और आख़िरत (परलोक), आरम्भ और अन्त, ज़िन्दगी और मौत, यहाँ तक कि संस्कृति और समाज के सुधार व बिगाड़ और ज़िन्दगी के तमाम विभागों में भलाई-बुराई का दारोमदार इसी पर है। इल्म और अक़ीदे का अगर ये सरचश्मा (स्रोत) ख़ुश्क हो जाए तो इनसान के पास नेकी, भलाई, हिदायत (मार्गदर्शन) और हक़ीक़त को जानने और उस तक पहुँचने का कोई ज़रीआ नहीं रहता। शायद इसी लिए अल्लाह ने दुनिया को पैदा करने के दिन अपने बन्दों से सवाल किया था कि "क्या मैं तुम्हारा रब नहीं हूँ?" और बन्दों ने जवाब में कहा था कि "हाँ, तू बेशक हमारा रब है।" यह अहद और वादा हालाँकि ज़ेहनों से ओझल हो गया, लेकिन इनसान की अन्तर्चेतना और स्वभाव (Nature) में एक प्यास, एक तहरीक और ख़ाहिश बनकर समा गया है। इसलिए हम देखते हैं कि इतिहास के हर दौर में हर क़ौम और हर धर्म ने किसी न किसी नौइयत से तौहीद की शान और उसकी महानता को स्वीकार किया है और अमली तौर पर बहुत-से ख़ुदाओं को पूजने के बावुजूद बुनियादी तौर पर यही माना कि बड़ा ख़ुदा एक ही है और ये छोटे-छोटे ख़ुदा उसी के क़ायम-मक़ाम (स्थानापन्न) हैं। या उसकी मुख़्तलिफ़ सिफ़तों के नुमाइन्दे हैं या इन्हें दुनिया के काम हिस्सेवार सुपुर्द करके बड़ा ख़ुदा आराम कर रहा है।

सम्भव है बहुत पुराने ज़माने में कुछ कौमें किसी थोड़ी मुद्दत तक माबूद और उपास्य के तसव्वुर से ख़ाली रही हों। लेकिन इतिहास बताता

है कि जब भी इनसान की चेतना जागी है और उसके शऊर ने आँखें खोलीं और प्रकृति के अन्दर छिपी हुई ख़ाहिशों को उभरने और पर निकालने का मौक़ा मिला उसी वक़्त ये क़ौमें आप से आप बग़ैर किसी बाहरी दबाव के इनसान से परे किसी ताक़त की तलाश में लगी हुई नज़र आईं और अपनी-अपनी समझ के मुताबिक़ हर शख़्स ने किसी सर्वोच्च सत्ता और ताक़तवर हस्ती का तस्व्वुर क़ायम करके उसकी परस्तिश और पूजा के कुछ तरीक़े मुक़र्रर कर लिए।

इतिहास की किताबी और मामूली जानकारी रखनेवाले लोग तो शायद मेरे इस दावे पर हैरत करें। क्योंकि वे देखते हैं कि पिछले ज़मानों में लगभग तमाम ही क़ौमें पत्थर के बुतों, हाड़-माँस के इनसानों और सूरज, दरिया, आग और इसी तरह की दूसरी चीज़ों को माबूद मानती रही हैं और आज तरक़्क़ी के इस ज़माने में भी मुसलमानों के अलावा हर क़ाबिले-ज़िक्र क़ौम, कम या ज़्यादा, तौहीद के ख़िलाफ़ अक़ीदे रखती है और अमली तौर से कई ख़ुदाओं को मानती है। लेकिन जो लोग तारीख़ या इतिहास की गहरी जानकारी रखते हैं और ज़ाहिरी कामों का इल्मी व नफ़्सियाती (ज्ञानात्मक और मनोवैज्ञानिक) ज़ाइज़ा लेकर इनके पीछे काम करनेवाले कारकों और प्रेरकों का पता चलाने की सलाहियत रखते हैं, वे ख़ूब जानते हैं कि फ़ितरत और अक़्ल के बुनियादी तक़ाज़े के तहत तमाम ही क़ौमें इस हक़ीक़त को महसूस करती रही हैं कि तमाम चीज़ों का मालिक, मुक़्तदिरे-आला और हाकिमे-मुतलक़ (सर्वोच्च सत्ता और शासक) किसी एक ही हस्ती को होना चाहिए। यह अलग बात है कि अक़्ल ग़लत जानकारी, नासमझी और आसमानी हिदायत की रौशनी से महरूम होने की वजह से वे न तो इस फ़ितरी रुझान को किसी वाज़ेह (स्पष्ट) अक़ीदे की शक्ल में ज़ाहिर कर सकीं, न वे यह जान सकीं कि सिर्फ़ एक माबूद को मान लेने की सूरत में इबादत का वह कौन-सा तरीक़ा हो सकता है जो इस तालीम और ख़याल व अक़ीदे की सही तर्जमानी कर सके। उनकी अक़्ल और इल्म की हद तक एक वाहिद मर्कज़ी हस्ती के लिए जिन ख़ूबियों का पाया जाना ज़रूरी था, उन ख़ूबियों के लिए उन्होंने अलग-अलग मज़ाहिर और निशानात (सांकेतिक चिह्न) बना लिए और

अलग-अलग उन मज़ाहिर और निशानात को पूजा। हर मज़हर और निशान को पूजते हुए वे जाने-अनजाने यही समझते हैं कि वे अस्ल माबूद को पूज रहे हैं। इसमें कोई शक नहीं है कि इनसान अगर किसी अक़ीदे और ख़याल को ज़ाहिर करने के लिए ऐसे काम करे और ऐसे तरीक़े अपनाए जो हक़ीक़त में उस अक़ीदे और ख़याल के बिल्कुल उलट हों तो यह अक़ीदा और ख़याल धुंधला पड़ते-पड़ते बिल्कुल ख़त्म हो जाता है और ख़वास (समझदार लोगों) के दिल व दिमाग़ में इसकी हल्का-सी छाप काफ़ी रहे तो रहे, कम से कम अवाम (कम समझ लोगों) के दिल व दिमाग़ में यह नाम के लिए भी बाक़ी नहीं रहता। अवाम अपने आमाल में आम तौर से रस्म व रिवाज और सोचे-समझे बिना तक़लीद व इत्तिबा (अंधानुकरण) करनेवाले होते हैं। चुनांचे फ़ितरत के तक़ाज़े और नबियों की तालीमात के बावुजूद इबादत के ग़लत तरीक़े ने तौहीद के नक़्श को इस तरह मिटा दिया कि जब अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने उनसे कहा कि एक ही ख़ुदा को मानो तो हैरत ज़ाहिर करते हुए बोले कि "यह तो हमारे सारे माबूदों को ज़लील करके एक ही ख़ुदा को सारे हक़ दिए देता है।" लेकिन हक़ीक़त में यह हैरत और मुँह फेरना तौहीद का अक़्ली व फ़ितरी तौर पर और समझ-बूझकर इनकार करना न था, बल्कि अमली तौर पर बहुत-से माबूदों को पूजते रहने और रस्म व रिवाज के रंग में रंगें जाने का सतही नतीजा और जहालत व नासमझी का फल था।

आज की दुनिया को देखिए, जो क़ौमें अनगिनत बुतों को पूजती हैं, कितने ही इनसानों को माबूद बनाए हुए हैं और कितने ही ख़्याली देवताओं की पुजारी हैं, उनके धर्म-गुरुओं और विद्वानों से आप बात करें तो वे हरगिज़ यह नहीं कहेंगे कि दुनिया के कारख़ाने पर दो या दो से ज़्यादा बराबर की ताक़तवाले देवताओं का राज है, बल्कि वे अस्ल और हक़ीक़त के एतिबार से यह मानेंगे कि इस दुनिया पर एक ही बादशाह का राज है। लेकिन चूँकि सबसे बड़ा ख़ुदा और उसकी बहुत-सी ताक़तें और ख़ूबियाँ आँखों से दिखाई देनेवाली चीज़ नहीं, इसलिए ख़ुदा और उसकी ख़ूबियों पर अच्छी तरह ध्यान जमाने और जिस गुण से मदद

लेने की ज़रूरत पड़े, उसी गुण पर अपना ध्यान केन्द्रित करने के लिए हमने बुतों को ज़ाहिरी निशान और मज़हर बना लिया है। कुछ इनसानों और ख़याली देवताओं के बारे में वे यह कहेंगे कि इनमें से अपने आप में ईश्वर तो हम किसी को नहीं मानते, हाँ, फ़ुलाँ बुज़ुर्ग में ईश्वर ने अपना फ़ुलाँ गुण डाल दिया है और फ़ुलाँ देवता को फ़ुलाँ ताक़त सुपुर्द कर दी। यानी अस्ल के एतिबार से तो माबूद (पूज्य) एक ही है, मगर वास्ते (माध्यम) और इन्तिज़ामी आसानियों के एतिबार से ये लोग दसियों माबूद बनाए हुए हैं।

जो क़ौमें ख़ुशफ़हमी से अपने को ईसाई कहती हैं—'ख़ुशफ़हमी' इसलिए कि हक़ीक़त में न ये उस तालीम को मानती हैं जो हज़रत ईसा (अलै॰) की तालीम थी और न यह तालीम अपनी सही शक्ल में आज मौजूद है— उनका भी यही हाल है कि इल्मी व मन्तिक़ी (तार्किक) एतिबार से मानती तो वे तसलीस (Trinity) को हैं, लेकिन किसी भी ईसाई आलिम से बात कीजिए, वह शिर्क का इक़रार और तौहीद का इनकार हरगिज़ नहीं करेगा, बल्कि तसलीस का सिरा खींच-तानकर तौहीद ही से मिलाएगा और मुशरिकाना अक़ीदे व आमाल के बावुजूद उसका बुनियादी ज़ेहन यही होगा कि अपने आप में पूरी तरह से मालिक व मुख़्तार और तमाम इक़्तिदार व क़ुव्वत का मर्कज़ तो सिर्फ़ एक ही हस्ती हो सकती है।

ऐसा क्यों है? इनसान की अक़्ल व समझ और फ़ितरत किस लिए तौहीद की तरफ़ झुकाव रखती हैं? खुली मुशरिक क़ौमें किस लिए तौहीद का इनकार नहीं करतीं? इन सवालों का एक ही जवाब है कि दुनिया के इस कारख़ाने के लिए किसी एक ही हस्ती को ख़ालिक़ व मालिक मानना और तमाम क़ुदरत व क़ुव्वत को उसी से जोड़ना ठीक फ़ितरत, शऊर (विवेक) और अक़्ल व समझ है। अक़्ल चाहे कैसी ही बातें बना ले, मन्तिक़ (तर्क) चाहे कितनी ही पलटियाँ खा ले, फ़लसफ़ा (दर्शन-शास्त्र) चाहे कैसे ही गोशे निकाल ले, लेकिन मजबूर होकर पहाड़ की तरह अटल इस हक़ीक़त को मानना पड़ता है कि अस्ल माबूद और तमाम इख़्तियार व इक़्तिदार का मालिक और पालनहार एक ही हो सकता है। इस्लाम के अपनी मुकम्मल और आख़िरी शक्ल में आने से

पहले तो यह मुमकिन भी था कि ख़ुद ही गढ़े हुए माबूदों के पुजारी और अपने बनाए हुए इबादत के तरीक़ों के मतवाले तौहीद से खुल्लम-खुल्ला इनकार कर दें लेकिन इस्लाम ने आकर इनसान को उसकी फ़ितरी माँग का ठीक-ठीक एहसास दिलाया। दिल में छिपी ख़ाहिश को एक हसीन व जमील नज़रिए और उसूल की शक्ल में पेश किया। ठोस इल्मी व अक़्ली दलीलें दीं और क़ुरआन की अकेली एक ही दलील इतनी असरदार, ताक़तवर और लोहे और फ़ौलाद से ज़्यादा मज़बूत साबित हुई कि इनसानी अक़्ल व इल्म और मुशाहिदे व तजरिबे के लिए उसका इनकार करना नामुमकिन हो गया। अल्लाह ने सादा लफ़्ज़ों में कहा कि अगर एक से ज़्यादा रब होते तो दुनिया का यह कारख़ाना तलपट हो जाता। यह सादा-सी मुख़्तसर दलील इनसानी अक़्ल व इल्म की बिसात पर आसमान की तरह छा गई। तजरिबे ने क़दम-क़दम पर बताया कि दुनिया के क़ायम रहने के लिए एक ही बादशाह और एक ही दुनिया के मालिक का होना जरूरी है। इसके अलावा इस्लाम ने और भी मज़बूत दलीलें दुनिया के सामने रखीं और दुनिया को मानना पड़ा कि तौहीद की सदाक़त व हक़्क़ानियत (सत्यता) को माने बिना चारा नहीं है।

दूसरा ज़वाब एक और भी है जो अगरचे अक़्ली व क़ियासी (ख़याली) क़िस्म का नहीं, बल्कि उसको समझने और मानने का दारोमदार इनसान के दिल व रूह के नेक होने पर है। लेकिन चूंकि यहाँ मुसलमानों को ही मुख़ातब किया जा रहा है इसलिए उसका ज़िक्र यहाँ बे-मौक़ा न होगा। क़ुरआन मजीद में एक जगह अल्लाह तआला ने फ़रमाया है—

> "और जब तेरे रब ने बनी आदम की पीठ से उनकी औलादें निकालीं और ख़ुद उन ही को उनका गवाह बना दिया (उनसे पूछा) "क्या मैं तुम्हारा रब नहीं हूँ?" उन्होंने जवाब दिया, "बेशक! (यह काम अल्लाह ने इसलिए किया कि) तुम हश्र के दिन यह न कह सको कि हम इससे (तेरे रब होने से) बेख़बर थे।"

यह वाक़िआ आलमे-मिसाल[1] का है। इब्ने-अब्बास (रज़ि॰) की रिवायत के मुताबिक़ इसका मतलब यह भी हो सकता है कि पहले दिन से क़ियामत तक पैदा होनेवाले तमाम ही इनसानों से यह अहद[2] लिया गया और कुछ लोगों के कहने के मुताबिक़ क़ुरआन के अल्फ़ाज़ से किसी ख़ास इनसानी तादाद भी मुराद ली जा सकती है। दोनों ही सूरतों में यह बात साबित हो जाती है कि तौहीद का एतिराफ़ व इक़रार इनसानी फ़ितरत का हिस्सा है। पहली सूरत में तो यह बताने की ज़रूरत ही नहीं कि हर इनसान इसमें शामिल है, अलबत्ता दूसरी सूरत में यह समझाना पड़ेगा कि जिस तरह भूख, प्यास, नींद, अक़्ल और शक्ल-सूरत की ख़ुसूसियतें वग़ैरह, इनसान के अन्दर एक-दूसरे में मुन्तक़िल (हस्तान्तरित) होती चली जाती हैं, उसी तरह इस "अहदे-अलस्त" का असर भी क़ियामत तक इनसान में नस्ल-दर-नस्ल मुन्तक़िल होता चला जाएगा। यह दलील सिर्फ़ तावील का दर्जा नहीं रखती, बल्कि इतिहास इसका पक्का सुबूत है। पुराने से पुराने जिस ज़माने का हाल भी हमें इतिहास बताता है, उसमें भी हम देखते हैं कि ग़ैर-मुहज़्ज़ब (असभ्य), पिछड़े हुए, अनपढ़ और तरक़्क़ी से अनजान इनसान भी आप से आप किसी न किसी माबूद की पूजा में लगे हुए हैं। माना कि हक़ीक़त तक अक़्ल की पहुँच न होने और नफ़्स के धोखा देने की वजह से यह पूजा तौहीद की ज़िद (विलोम) और शिर्क पर आधारित थी, लेकिन इस हक़ीक़त से इनकार की क्या गुंजाइश है कि उनका इबादत का ज़ज़्बा फ़ितरत ही की पुकार था। फ़ितरत न उभारती तो आख़िर कौन-सी ताक़त उन्हें मजबूर कर रही थी कि रोज़ी की

---

[1] आलमे-मिसाल उस दुनिया को कहते हैं जो हमारी नज़रों से ओझल है। उस दुनिया में यहाँ की तमाम चीज़ों का नमूना या अस्ल मौजूद है। (अनुवादक)

[2] इसी रिवायत की तसदीक़ व ताईद इमाम अहमद (रह॰) की उस रिवायत से होती है जो मिश्कात "बाबुल-ईमान बिल-क़द्र" में लिखी है। मुझे ज़ाती तौर पर यही व्यख्या सही मालूम होती है और अगली व्यख्या की कोई दलील मुझे मालूम न हो सकी। सिवाय इसके कि तमाम इनसानों को एक ही वक़्त में आलमे-मिसाल में हाज़िर कर लेना अक़्ल में न आने जैसी बात है, हालाँकि इस तरह के मामलों में इनसानी अक़्ल की सलाहियत पर ध्यान नहीं देना चाहिए। (लेखक)

तलाश, आराम व राहत की जुस्तजू और दुनिया की दूसरी मसरूफ़ियतों के साथ-साथ वे ख़ाह-मख़ाह पूजा-पाठ में वक़्त बर्बाद करें और बेवजह ख़ुद को किसी एक या कुछ माबूदों के आगे तुच्छ व कमतर बनाएँ। आख़िर किसने उनसे कहा था कि सूरज या दरिया या पत्थर की मूर्तियों को पूजना शुरू कर दो। ज़ाहिर है कि यह सिर्फ़ और सिर्फ़ इसी बुनियाद पर हो सकता है कि जिस तरह भूख, प्यास, आराम की ख़ाहिश, नींद और जिनसी ख़ाहिश फ़ितरत की ऐसी (स्वाभाविक) ख़ाहिशे हैं कि इनके लिए किसी बाहरी प्रेरक और सिखानेवाले की ज़रूरत नहीं, इसी तरह बन्दगी का जज़्बा और नियाज़-मन्दी की ख़ाहिश भी फ़ितरत ही में दाख़िल है, जिसके लिए किसी बताने या सिखानेवाले की ज़रूरत नहीं। ज़रूरत है तो सिर्फ़ इस बात की कि इस जज़्बे को सही राह पर डालने के लिए अल्लाह के भेजे हुए नबियों की तालीम व तफ़हीम को क़बूल किया जाए।

इस हक़ीक़त को समझ लेने के बाद वह एतिराज़ भी ख़त्म हो जाता है जो नासमझ सतही नज़र से देखनेवाले लोग "अहदे-अलस्त" के बारे में करते हैं, यानी वे लोग कहते हैं कि जब यह अज़ली अहद इनसान की याददाश्त में महफ़ूज़ न रहा तो इससे क्या हासिल हुआ? और क्यों अल्लाह ने यह बेकार काम किया?

यह एतिराज़ इसलिए ख़त्म हो जाता है कि यह अहद याददाश्तों में बिठाने के लिए लिया ही नहीं गया था और न अल्लाह ने विरासती और नस्ली सिलसिले में यह क़ायदा रखा है कि जो वाक़िआत बाप की याददाश्त में महफ़ूज़ हों वे सभी या कुछ बच्चों की याददाश्तों में भी मुन्तक़िल (हस्तान्तरित) हो जाएँ, बल्कि इस अहद का मक़सद तौहीद (एकेश्वरवाद) और बन्दगी के जज़्बे को इनसान की फ़ितरत का हिस्सा बना देना था और उसके अन्दर परवरदिगार की तलाश व तजस्सुस का रुझान, सलाहियत और ख़ाहिश पैदा कर देना था। किसी वाक़िए का याददाश्त से मिट जाना ही उसके बे-असर होने की काफ़ी दलील नहीं। आप देखते हैं कि बहुत-से लोगों को जवानी में यह बिल्कुल याद नहीं रहता कि आज हम जिस ज़बान की हर किताब को फ़र-फ़र पढ़

डालते हैं, उस ज़बान की 'अ', 'आ', 'इ', 'ई' हमें बचपन में किसने, कब और किस तरह सिखाई। उन्हें न वह माहौल याद होता है जिसमें उन्हें हर्फ़ पहचानने के शुरुआती सबक़ मिले, न उससे मुताल्लिक़ कोई और तफ़सील याददाश्त में महफ़ूज़ होती है, हालाँकि आज उनका हर्फ़ पहचानना, ज़बान जानना और इल्म व फ़न (हुनर, कला) की सबसे पहली बुनियाद छुटपने की यही तालीम थी और इसी तालीम ने उनमें यह महारत पैदा की कि मोटी-मोटी किताबें आसानी से पढ़ डालें। अब क्या कोई नादान यह बेवक़ूफ़ी भरा दावा कर सकता है कि याद्दाश्त से मिट जानेवाली यह इब्तिदाई तालीम बेकार रही। या कोई पढ़ा-लिखा आदमी सिर्फ़ इसलिए अपने पढ़े-लिखे होने से इनकार कर सकता है कि उसे बचपन के उस्ताद (टीचर) का नाम और हर्फ़ (अक्षर) पहचानने का ज़माना और कैफ़ियत और माहौल, कुछ भी याद नहीं रहा है। याद रहे न रहे लेकिन हर्फ़ पहचानने की जो महारत और समझ पैदा हो चुकी है वह बिल्कुल काफ़ी है।

इसी से किसी न किसी हद तक मिलती-जुलती मिसाल 'अहदे- अलस्त' की है। वह याददाश्तों में जमा देने के लिए नहीं लिया गया था, बल्कि वह इसलिए था कि इनसान की तबीअत और फ़ितरत में एक महारत, एक सलाहियत और एक मुस्तक़िल प्यास, एक तलब, एक ख़ाहिश, एक तहरीक हमेशा के लिए बिठा दे और अन्य प्रकृति एवं स्वभाव के अंशों की तरह यह भी क़ियामत तक तबीअत और फ़ितरत का अंग बना रहे। इसको अल्लाह ने दूसरी जगह यूँ बयान किया है–

> "अल्लाह की उस फ़ितरत पर अमल करो जिसपर उसने लोगों को पैदा किया। अल्लाह की तख़लीक़ (संरचना) में किसी तरह का परिवर्तन सम्भव नहीं।" (क़ुरआन, 30:30)

इसी हक़ीक़त को अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने इन अल्फ़ाज़ में बयान किया है–

> "हर एक बच्चा फ़ितरत पर पैदा होता है। फिर उसके माँ-बाप उसे यहूदी या नसरानी या मजूसी (वग़ैरा) बना देते हैं।"

अस्ल फ़ितरत यही है कि इनसान एक ख़ुदा को माने। अब यह अलग बात है कि अक़्ल और इल्म की अस्ल हक़ीक़त तक न पहुँच पाने की वजह से इनसान के लिए यह मुमकिन नहीं है कि मानने के सही तरीक़ों, आदाब और तक़ाज़ों को आप से आप समझ सके। इसके लिए अल्लाह के भेजे हुए नबियों की ज़रूरत पड़ती है, और इस ज़रूरत को अल्लाह तआला बराबर पूरा करता रहा और आख़िरकार एक आख़िरी नबी को मुकम्मल शरीअत और दीन देकर भेज दिया ताकि क़ियामत तक के लिए तमाम इनसानी दुनिया उस दीन (शरीअत) के बताए हुए तरीक़ों पर चलकर बन्दगी का सही हक़ अदा कर सके।

ख़ालिस तौहीद

तमहीद (भूमिका) के तौर पर लिखी गई इन बातों के बाद अब हमें देखना है कि जब तमाम ही क़ौमें किसी न किसी शक्ल में तौहीद की सच्चाई को साफ़ तौर से या इशारतन (सांकेतिक रूप से) मानती हैं, तो क्या उनकी और मुसलमानों की तौहीद एक ही है या अलग-अलग? क्या तौहीद की हद तक सबको एक ही लाइन में समझा जाएगा या कुछ फ़र्क़ किया जाएगा?

तो इसकी तफ़सील यह है कि तौहीद अपनी हक़ीक़त के एतिबार से तो फ़र्क़ व इख़्तिलाफ़ और तक़सीम की गुंजाइश ही नहीं रखती लेकिन लफ़्ज़ी मानी के लिहाज़ से इसकी दो क़िस्में हैं। अल्लामा इब्ने-तैमिया (रह॰) ने तो इन दो क़िस्सों का नाम 'तौहीदे-रुबूबियत' और 'तौहीदे-उलूहियत' रखा है लेकिन मैं बात को आम लोगों के लिए ज़्यादा आसान बनाने के लिए उनका नाम 'लफ़्ज़ी तौहीद' और 'हक़ीक़ी तौहीद' रखता हूँ।

लफ़्ज़ी तौहीद तो यह हैं कि आदमी ख़ुदा को एक माने और बस। यानी वह यह कहे कि तमाम इक़्तिदार (सत्ता) व क़ुव्वत का मालिक एक ही है और उसके जैसा और उसके बराबर कोई नहीं, बस इतने पर बात ख़त्म कर दे या ज़्यादा से ज़्यादा यह मान ले कि वही रोज़ी देनेवाला है, मारनेवाला है, जिलानेवाला है, इस तरह की चन्द

सिफ़तों को मानकर ख़ामोश हो जाए और न तो अल्लाह की तमाम सिफ़तों (गुणों) का इक़रार करे, न उन तक़ाज़ों और नतीजों पर ध्यान दे जो ख़ुदा को मालिक व ख़ालिक़ और राज़िक और रब मानने का लाज़िमी नतीजा हैं। यह है लफ़्ज़ी तौहीद। यही तौहीद है जिसको ग़ैर-मुस्लिम मानते हैं, और यही वह तौहीद है जो हालाँकि लफ़्ज़ी तौर पर तौहीद कही जाती है, लेकिन नतीजों के एतिबार से कुफ़्र व शिर्क पर जाकर ख़त्म होती है। इस तौहीद को माननेवाले आम तौर से वह कुछ करते और कहते हैं जो हक़ीक़ी व अस्ली तौहीद के फ़ायदों और लाभों को बर्बाद करनेवाला और शिर्क व कुफ़्र के नुक़सानात व बुराइयों को बढ़ावा देनेवाला होता है।

क़ुरआन व हदीस में लफ़्ज़ी तौहीद को साफ़-साफ़ बयान किया गया है और बहुत सफ़ाई से बता दिया गया है कि इस तरह की तौहीद न ख़ुदा को चाहिए, न इससे हक़ीक़ी तौहीद के तक़ाज़े पूरे होते हैं। लफ़्ज़ी तौहीद के माननेवालों का हाल अल्लाह ने एक जगह यूँ बयान किया है—

> "(ऐ मुहम्मद!) अगर तुम इनसे पूछो कि बताओ ज़मीन व आसमान और सारी चीज़ें किस की हैं, अगर तुम्हें मालूम हो? तो कहेंगे : अल्लाह की! इनसे कहो, तुमपर नसीहत का असर क्यों नहीं होता? पूछो, सात आसमानों और अर्शे-आज़म का मालिक कौन है? कहेंगे : अल्लाह! कह दो, फिर तुम किस लिए नहीं डरते? पूछो, तमाम कायनात की मिलकियत व हुकूमत किसके हाथ में है? वह कौन है जो दूसरों को पनाह देता है लेकिन उसके मुक़ाबले में कोई किसी को पनाह नहीं दे सकता? कहेंगे : अल्लाह! तो कह दो, फिर आख़िर तुमपर क्या जादू चल गया है (कि गुमराह हुए जाते हो)? (क़ुरआन, 23:84-89)

दूसरी जगह फ़रमाया—

> "और अगर तुम उनसे पूछो कि किसने आसमानों और ज़मीन को पैदा किया तो ज़रूर कहेंगे कि अल्लाह ने।"
>
> (क़ुरआन, 39 : 38)

यानी वे लोग अल्लाह के मालिक, हाकिम और ख़ालिक़ वग़ैरा होने को तो मानते थे, लेकिन फिर भी वे सीधे रास्ते से इस हद तक हटे हुए थे मानो उनपर जादू कर दिया गया हो जो साफ़ और सीधे रास्ते पर चलने की जगह ग़लत और टेढ़ी राह पर चले जा रहे हों। चुनाँचे फ़रमाया—

> "ईमान का दावा करने के बावुजूद अकसर लोग मुशरिक होते हैं।"
> (क़ुरआन, 12:106)

दूसरी क़िस्म तौहीदे-हक़ीक़ी है। इसकी तारीफ़ (परिभाषा) यह है कि इनसान ख़ुदा को इस मानी में एक माने कि तमाम ख़ूबियाँ अपनी इन्तिहाई हद तक उसी में पाई जाती हैं और उसी की अमलदारी न सिर्फ़ माद्दी कायनात (भौतिक संसार) के हर हिस्से पर है, बल्कि इनसान के जज़्बात व ख़यालात, रूह, शऊर (विवेक) और लतीफ़ से लतीफ़तर अनासिर (सूक्ष्म से सूक्ष्मतम तत्वों) पर है। हर चीज़ पर उसका इक़्तिदार व हुकूमत होने के तमाम तक़ाज़े और मुतालबे न सिर्फ़ दिल व ज़बान से क़बूल किए जाने ज़रूरी हैं, बल्कि उन्हें अमली ज़िन्दगी में रहनुमा बनाना और अपने आमाल (करनी) से उनपर पूरा यक़ीन होने का सुबूत पेश करना ज़रूरी है। वही हर छोटे-बड़े मामले का इनसाफ़ करनेवाला, हर मसले का हल करनेवाला, हर खुली-छिपी बात की ख़बर रखनेवाला, हर ऐब और ख़ूबी से पूरी तरह जानकारी रखनेवाला और हर जगह, हर वक़्त और हर ज़माने में हुकूमत करनेवाला है।

तौहीद की यही क़िस्म है जो अल्लाह अपने बन्दों से चाहता है और इसी के माननेवाले उसके नज़दीक मोमिन हैं। जैसा कि क़ुरआन और हदीस में इसे वज़ाहत के साथ (स्पष्टतः) बयान कर दिया गया है। इसमें शक नहीं कि क़ुरआन और हदीस में ऐसी लफ़्ज़ी तक़सीम नहीं मिलती जैसी हमने या पिछले ज़माने के कुछ आलिमों ने की है, क्योंकि तौहीद तो अस्ल में एक ही है और जिस अधूरे, ऐबदार और बे-नतीजा ख़याल (परिकल्पना) को इनसानों ने तौहीद का नाम दे लिया है, वह तौहीद नहीं शिर्क है। लेकिन हमने महज़ समझाने और बात को वाज़ेह (स्पष्ट) करने के लिए यह तक़सीम की है ताकि अल्लाह अपने बन्दों से

जो तौहीद चाहता है, उसकी वज़ाहत हो और जो तौहीद उसे नहीं चाहिए उसकी तरदीद (खण्डन) हो जाए।

तौहीदे हक़ीक़ी की वज़ाहत (व्याख्या) के लिए अल्लाह ने क़ुरआन करीम में बहुत-ही साफ़-साफ़ आयतें नाज़िल कीं और प्यारे नबी (सल्ल॰) ने उन आयतों की तशरीह और वज़ाहत इतनी बार और इतनी ज़्यादा की कि शायद ही किसी और आयत की की हो। आप (सल्ल॰) ने 'शिर्के-जली' (खुले शिर्क) ही की वज़ाहत नहीं की बल्कि 'शिर्के-ख़फ़ी' (छिपे शिर्क) को भी मौक़े-मौक़े से बयान करते रहे और ज़िन्दगी के किसी भी हिस्से में मुशरिकाना ख़यालात व अक़ीदों की गुंजाइश नहीं छोड़ी। यहाँ तक कि फ़रमाया–

> "चाहिए कि तुममें से हर एक अपनी हर ज़रूरत अल्लाह ही से माँगे, यहाँ तक कि जूते का तस्मा (फ़ीता) भी जब वह टूट जाए। क्योंकि अल्लाह अगर मुयस्सर न करे तो जूते का एक तस्मा भी नहीं मिल सकता।"

ग़ौर कीजिए, कितनी पाकीज़ा और बेजोड़ तौहीद का सबक़ अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) दे रहे हैं। उन्होंने उम्मत को एक बेहद मामूली-सी चीज़ जूते के तस्मे (फ़ीते) की मिसाल देकर यह तालीम दी कि ख़ज़ाने, जायदादें और शानो-शौकत बढ़ानेवाली चीज़ें ही अल्लाह की दी हुई नहीं है, बल्कि दुनिया की छोटी-से-छोटी चीज़ भी उसी की मरज़ीं से मिल सकती है, वरना अगर उसकी मरज़ी न हो तो जूते का तस्मा जैसी मामूली चीज़ भी नहीं मिल सकती। इसकी हज़ारों मिसालें आपको अपने चारों तरफ़ बिखरी दिखाई दे सकती हैं। एक शख़्स है जो दोनों वक़्त क़ीमती और मज़ेदार खाने खाता है। उसकी निगाह में गेहूँ की एक रोटी कोई क़ीमत नहीं रखती। लेकिन दूसरा शख़्स है जो गेहूँ की एक रोटी ही के लिए ख़ून-पसीना एक करता है और फिर भी कभी-कभी उसे भूखे ही सोना पड़ जाता है। आदमी ग़ौर करे तो अल्लाह के इनामों और उसकी सख़ावत (दानशीलता) की इन्तिहा नहीं। कभी जिसको निमोनिया हुआ हो, उससे पूछिए कि एक साँस लेने में वह कितनी ज़्यादा तकलीफ़ बरदाश्त करता है और हवा की एक मामूली सी मिक़दार (मात्रा) को अपने फेफड़ों तक पहुँचाने के लिए उसे कितनी

ज़्यादा तकलीफ़ बरदाश्त करनी पड़ती है। हालाँकि यही वह हवा है जिसे तमाम इनसान थोड़ी-सी भी मेहनत किए बिना हर पल अपनी ज़िन्दगी के काम में लाते हैं और महसूस भी नहीं करते कि उनकी हर साँस अल्लाह का दिया हुआ इनाम है। वह जब चाहे तो इसी साँस को इनसान के लिए मुश्किल बोझ बना सकता है। लिहाज़ा इनसाफ़ और इल्म व अक़्ल का तक़ाज़ा यह है कि बड़ी से लेकर छोटी-से-छोटी चीज़ तक के इस्तेमाल का पूरा इख़्तियार उसी के पास हो और इनसान के लिए उसे पाने में दुनियावी ज़रीए और संसाधन सिर्फ़ बहाने का दर्जा रखते हैं। अस्ली दाता और देनेवाला वही है, दुनिया का मालिक, जलाल और इज़्ज़त वाला।

तौहीद की नज़ाकत अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के इस क़ौल से वाज़ेह होती है—

> "जिसने दिखाने के लिए नमाज़ पढ़ी; उसने शिर्क किया। जिसने दिखाने के लिए रोज़ा रखा; उसने शिर्क किया। जिसने दिखाने के लिए सदक़ा दिया; उसने शिर्क किया।"

जानते हैं आप ये किसके अल्फ़ाज़ हैं? उस सच्चे इनसान के जिसे सबने सच्चा क़रार दिया था, जिसके लिए अल्लाह ने फ़रमाया, "वह मन-मर्ज़ी से कुछ नहीं कहता, सिवाय इसके जो वह्य उसपर नाज़िल की जाती है।" (क़ुरआन, 53:2,3) जिसकी हर बात शक-शुब्हे से परे और बिल्कुल सच्ची होती है। ग़ौर कीजिए! फ़िक्रो-नज़र की किन गहराईयों तक तौहीद की जड़ें फैली हुई हैं और किस आख़िरी दरजे तक शिर्क से बचना मतलूब (अपेक्षित) है। सीधे-सीधे किसी मख़लूक़ को अल्लाह की सिफ़तों (गुणों) जैसी सिफ़तोंवाला बताना तो दूर रहा, सिर्फ़ इतनी-सी बात भी शिर्क क़रार दी गई कि इनसान इबादत करते हुए दिखावे की नीयत रखे। मानो वह अपनी इबादत का बदला मक़बूलियत और अक़ीदत व नियाज़मन्दी की शक्ल में मख़लूक़ से चाह रहा है। हालाँकि उसने ज़बान से कुछ नहीं कहा, मगर दिल में दिखावे का ख़याल पाया जाना ही शिर्क क़रार देने के लिए काफ़ी समझा गया, और क्यों न समझा जाता जबकि अल्लाह ने शुरू ही में यह तालीम बन्दों को पहुँचाई

कि "हम तेरी ही इबादत करते हैं और तुझी से मदद चाहते हैं" (क़ुरआन, 1:4) खुली और छिपी दोनों सूरतों में अल्लाह ही पर भरोसा करने पर मुश्तमिल ये साफ़ अल्फ़ाज़ यक़ीनन इस बात का तक़ाज़ा करते थे कि शिर्क के शाइबे तक को मिटा दिया जाए और ख़ालिस और सच्ची तौहीद की बुनियाद पर मुस्लिम उम्मत की तामीर हो............कि अरबी में "अब्द" ग़ुलाम के मानी में आता है और "अमत" बाँदी (दासी) के मानी में। ये दोनों लफ़्ज़ इस्लाम से पहले और उसके आने पर अरब के लोगों में आम तौर से इस्तिमाल किए जाते थे। लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) फ़रमाते हैं–

> "तुममें से कोई भी हरगिज़ किसी को 'अब्दी' (मेरा बन्दा) और 'अमती' (मेरी बाँदी) न कहे क्योंकि तुम सब अल्लाह के अब्द (बन्दे) हो और सब औरतें अल्लाह की बाँदियाँ हैं। हाँ, तुम्हें कहना चाहिए 'ग़ुलामी' (मेरा ग़ुलाम) और 'जारियती' (मेरी कनीज़) और जवान मर्द और जवान औरत।"

ज़ाहिर है कि अपने जाने-पहचाने मानी की वजह से कोई भी अरब 'अब्दी' और 'अमती' उन मानों में नहीं बोलता था जिन मानों में इनसान को अल्लाह का 'अब्द' और 'अमत' कहा जाता है। लेकिन फिर भी तौहीद के अक़ीदे बिल्कुल पाक-साफ़ रखने के लिए लफ़्ज़ी तशाबुह (समानता) भी पसन्द नहीं फ़रमाया और बुराई और बिगाड़ की जड़ें काट दीं। ख़ालिस तौहीद को साबित करने और शिर्क को झुठलानेवाली अनगिनत दलीलें क़ुरआन व हदीस से लाई जा सकती हैं। लेकिन चूँकि यहाँ उन लोगों की बात की जा रही है जो तौहीद को माननेवाले और शिर्क को बुरा समझनेवाले हैं, इसलिए और कुछ कहने के बजाए एक हदीस पर बात के इस पहलू को ख़त्म करते हैं। यह हदीस इब्ने-हिब्बान, हाकिम और तिर्मिज़ी वग़ैरा ने रिवायत की है। इससे हर मुसलमान अन्दाज़ा कर सकता है कि इस्लाम को सिर्फ़ इतना ही नहीं चाहिए कि आप अल्लाह को एक और ख़ालिक़ व मालिक और राज़िक़ व रब मानकर दुनिया के कामों में गुम हो जाएँ। बल्कि वहाँ तो उसकी तमाम सिफ़ाते-कामिला (इन्तिहाई दरजे तक पहुँची हुई ख़ूबियों) का एतिराफ़ और उनपर यक़ीन करना मतलूब (अपेक्षित) है ताकि

आपको ज़िन्दगी के किसी भी गोशे में उसके इक़्तिदार और इख़्तियार को ख़ारिज कर देने की गुंजाइश न मिले और किसी भी मामले में आप उसके सिवा किसी को बाइख़्तियार और हाकिम न समझ सकें। अगर अल्लाह किसी को तौफ़ीक़ दे और वह हदीस में बयान किए गए 'अस्मा-ए-हुसना' को ज़बानी याद कर ले तो इसके पढ़ते रहने के बड़े फ़ायदे और बड़ी बरकतें आलिमों और परहेज़गार लोगों ने लिखी हैं।

अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से रिवायत है कि आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया :

"अल्लाह के निन्यानवे (99) नाम हैं। जो उन्हें याद कर लेगा जन्नत में जाएगा। वह अल्लाह है जिसके सिवा कोई बन्दगी के लायक़ नहीं, 'अर-रहमानु' (निहायत मेहरबान), 'अर-रहीमु' (बहुत रहमवाला), 'अल-मालिकु' (बादशाह), 'अल-क़ुद्दूसु' (पाक), 'अस-सलामु' (हर हानि से मुक्त), 'अल-मुअमिनु' (अमान देनेवाला), 'अल-मुहैमिनु' (पनाह में लेनेवाला), 'अल-अज़ीज़ु' (ज़बरदस्त), 'अल-जब्बारु' (दबाववाला), 'अल-मुतकब्बिरु' (बड़ाई देनेवाला), 'अल-ख़ालिक़ु' (पैदा करनेवाला), 'अल-बारियु' (निकाल खड़ा करने वाला), 'अल-मुसव्विरु' (सूरत बनानेवाला), 'अल-ग़फ़्फ़ारु' (बहुत माफ़ करनेवाला), 'अल-क़ह्हारु' (बहुत ग़लबेवाला), 'अल-वह्हाबु' (बहुत देनेवाला), 'अर-रज़्ज़ाक़ु' (रोज़ी देनेवाला), 'अल-फ़त्ताहु' (फ़ैसला करनेवाला), 'अल-अलीमु' (बाख़बर), 'अल-क़ाबिज़ु' (तंगी देनेवाला), 'अल-बासितु' (ख़ुशहाली देनेवाला), 'अल-ख़ाफ़िज़ु' (पस्त करनेवाला), 'अर-राफ़िउ' (ऊपर उठानेवाला), 'अल-मुइज़्ज़ु' (इज़्ज़त देनेवाला), 'अल-मुज़िल्लु' (ज़िल्लत देनेवाला), 'अस-समीउ' (सुननेवाला), 'अल-बसीरु' (देखनेवाला), 'अल-हकमु' (हक़ीक़ी फ़ैसलेवाला), 'अल-अदलु' (सरापा इंसाफ़), 'अल-लतीफ़ु' (भेद जाननेवाला), 'अल-ख़बीरु' (ख़बरदार), 'अल-हलीमु' (बुर्दबार), 'अल-अज़ीमु' (अज़मतवाला), 'अल-ग़फ़ूरु' (मग़फ़िरत करनेवाला), 'अश-शकूरु' (थोड़े अमल पर बहुत देनेवाला), 'अल-अलीयु' (बुलन्द

रुतबेवाला), 'अल-कबीरु' (बड़ाई वाला), 'अल-हफ़ीज़ु' (हिफ़ाज़त करनेवाला), 'अल-मुक़ीतु' (हिस्सा बाँटकर देनेवाला), 'अल-हसीबु' (हिसाब करनेवाला), 'अल-जलीलु' (बुज़ुर्गीवाला), 'अल-करीमु' (बिना माँगे देनेवाला), 'अर-रक़ीबु' (निगरानी करने वाला), 'अल-मुजीबु' (जवाब देनेवाला), 'अल-वासिउ' (कुशादगी वाला), 'अल-हकीमु' (हिकमतवाला), 'अल-वदूदु' (उठानेवाला), 'अल-मजीदु' (पाकी और शराफ़त वाला), 'अल-बाइसु' (उठानेवाला), 'अश-शहीदु' (गवाह), 'अल-हक़्क़ु' (साबित), 'अल-वकीलु' (काम बनानेवाला), 'अल-क़वीयु' (ताक़तवाला), 'अल-मतीनु' (मज़बूत), 'अल-वलीयु' (दोस्त व मददगार), 'अल-हमीदु' (तारीफ़ का हक़दार), 'अल-मुहसियु' (हर चीज़ की गिनती करनेवाला), 'अल-मुबदियु' (अदम से वुजूद में लानेवाला), 'अल-मुईदु' (मिट जानेवाले को फिर से वुजूद में लानेवाला), 'अल-मुहीयु' (ज़िन्दा करनेवाला), 'अल-मुमीतु' (मौत देनेवाला), 'हल-हय्यु' (हमेशा ज़िन्दा रहनेवाला), 'अल-क़य्यूमु' (मख़लूक़ की हस्ती को व्यवस्थित रखनेवाला), 'अल-वाजिदु' (वुजूद देनेवाला), 'अल-माजिदु' (बुज़ुर्गी व इज़्ज़तवाला), 'अल-वाहिदु' (अकेला), 'अल-अहदु' (बेमिसाल), 'अस-समदु' (बेनियाज़), 'अल-क़ादिरु' (क़ुदरत वाला), 'अल-मुक़्तदिरु' (हर चीज़ पर प्रभावी), 'अल-मुक़द्दिमु' (आगे करनेवाला), 'अल-मुअख़्ख़िरु' (पीछे करनेवाला), 'अल-अव्वलु' (सबसे पहले), 'अल-आख़िरु' (सबके बाद बाक़ी रहनेवाला), 'अज़-ज़ाहिरु' (सब पर ज़ाहिर), 'अल-बातिनु' (सब की नज़रो से ओझल), 'अल-वालियु' (हर चीज़ का ज़िम्मेदार), 'अल-मुतआलियु' (बहुत बुलन्द), 'अल-बिर्रु' (बहुत भलाई करनेवाला), 'अत-तव्वाबु' (बहुत तौबा क़बूल करनेवाला), 'अल-मुन्तक़िमु' (बदला लेनेवाला), 'अल-अफ़ुव्वु' (माफ़ करनेवाला), 'अर-रऊफ़ु' (बड़ी रहमतवाला), 'मालिकुल-मुल्कि' (सारी कायनात का मालिक), 'ज़ुल-जलालि वल-इकरामि' (जलाल व बख़्शिश वाला), 'अल-मुक़सितु' (इनसाफ़ करनेवाला), 'अल-जामिउ' (जमा करनेवाला), 'अल-ग़नीयु'

(सबसे बेनियाज़), 'अल-मानिउ' (रोकनेवाला), 'अज़-ज़ारु' (नुक़सान पहुँचानेवाला), 'अन-नाफ़िउ' (फ़ायदा पहुँचानेवाला), 'अन-नूरु' (ख़ुद ब ख़ुद ज़ाहिर), 'अल हादियु' (हिदायत देनेवाला), 'अल-बदीउ' (बग़ैर नमूने के पैदा करनेवाला), 'अल-बाक़ियु' (हमेशा रहनेवाला), 'अल-वारिसु' (तमाम मख़्लूक़ात की फ़ना के बाद उनके माल का मालिक), 'अर-रशीदु' (सही राह बतानेवाला), 'अस-सबूरु' (बरदाश्त करनेवाला)।"

ग़ौर क़ीजिए कि अल्लाह तआला के इतने सारे सिफ़ाती नाम क्या अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने (अल्लाह माफ़ करे) यूँ ही बिला वजह बयान कर दिए? क्या उनका यह मंशा नहीं है कि कायनात में कामों के जो भी असबाब, ज़रीए और नतीजे नज़र आते हैं, उन सबमें अल्लाह ही की कारसाज़ी और क़ुदरत काम कर रही है। यह नहीं कि वह मालिकुल-मुल्क कायनात को बनाकर एक तरफ़ हो गया और मख़लूक़ को मनमानी करने के लिए आज़ाद छोड़ दिया, न यह कि रोज़ी, ज़िन्दगी और मौत देने जैसे कुछ बड़े-बड़े काम तो उसने अपने हाथ में रखे, बाक़ी तमाम क़ुव्वतें उसने मख़लूक़ में बाँट दीं। बल्कि वह हर ज़माने और हर जगह पर इनसान के छोटे-से-छोटे मामलों में, दुख-सुख में, कामयाबी और घाटे में, ज़िल्लत और इज़्ज़त में, ग़रीबी और अमीरी में, ग़रज़ हर मामले में उसे पूरा इख़्तियार हासिल है।

बिदअत

हालाँकि तौहीद की ज़िद (विलोम) शिर्क है, लेकिन इनसान की अक़्ल और इल्म की पहुँच इतनी नहीं कि वह प्यारे नबी (सल्ल॰) के साफ़-साफ़ बताने और ख़बरदार किए जाने के बग़ैर पूरी तरह यह समझ सके कि वे कौन-सी बातें और काम हैं जो शिर्क के तहत आते हैं और कौन-से अक़ीदे हैं जो इसके बावुजूद कि वे मुशरिकाना नज़र नहीं आते लेकिन फिर भी मुशरिकाना होते हैं। "रिया" (दिखावा) ही को देख लीजिए। यह अपनी ज़ाहिरी शक्ल में ज़्यादा से ज़्यादा एक ख़राब और ऐबदार काम नज़र आता है, जिसका करनेवाला अकसर हालात में

तौहीद के इनकार का वहम भी नहीं करता और यह सोचता तक नहीं कि वह शिर्क की गन्दगी से आलूदा हो रहा है। लेकिन प्यारे नबी (सल्ल॰) की ज़बान ने इसे कई बार शिर्क बताया।

यही मामला बिदअत का भी है। बिदअत किसे कहते हैं, पहले इसे समझ लीजिए। अल्लाह ने अपने आख़िरी पैग़म्बर के ज़रीए से इनसान के लिए एक मुकम्मल ज़ाबित-ए-हयात और निज़ामे-ज़िन्दगी नाज़िल किया और ज़िन्दगी में काम करने के लिए जितने गोशे (विभाग) मुमकिन हो सकते हैं, उन सबके लिए कुछ उसूल, कुछ तरीक़े और कुछ क़ानून मुक़र्रर करके एलान कर दिया कि "आज मैंने तुम्हारे लिए दीन को मुकम्मल कर दिया।" (क़ुरआन, 5:3)। यानी दुनिया की सलतनत के लिए हमेशा रहनेवाले जिस दस्तूर की ज़रूरत थी उसे पूरा का पूरा अल्लाह तआला ने इनसान को दे दिया और इसकी गुंजाइश नहीं छोड़ी कि क़ियामत तक उसमें कोई बढ़ोत्तरी या कमी की जा सके। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने साफ़-साफ़ लफ़्ज़ों में बार-बार इसकी तसदीक़ की—

> "जिस शख़्स ने हमारे इस अम्र (हुक्म) में (और एक रिवायत में "हमारे दीन में" के अलफ़ाज़ हैं) कोई नई चीज़ निकाली, वह क़बूल करने के लायक़ नहीं है।"

दूसरी जगह कहा—

> "ख़बरदार! बिदअत से बचते रहना। इसलिए कि यक़ीनन हर बिदअत गुमराही है।"

एक और जगह बताया कि दीन में अपनी तरफ़ से कोई बढ़ोत्तरी करनेवाला अल्लाह के इन्तिहाई ग़ज़ब का हक़दार होगा। एक और जगह बताया कि जब किसी जगह एक बिदअत अपना ली जाती है तो उसके बदले में अल्लाह वहाँ से एक सुन्नत उठाता है। यानी दोहरी महरूमी, एक तो बिदअत का गुनाह, दूसरे सुन्नत की बरकत से महरूमी।

किसी को इख़्तियार नहीं कि अपनी तरफ़ से कोई नई इबादत, बन्दगी का कोई नया तरीक़ा, दीन के बुनयादी उसूलों और उससे मुताल्लिक़ दूसरे अहकाम में अपनी तरफ़ से कोई चीज़ गढ़कर मिला

सके। सिर्फ़ इतना इख़्तियार दिया गया है कि जिन मामलों और मसलों के लिए साफ़-साफ़ खुले अहकाम बयान नहीं किए गए उनमें दीन के दूसरे अहकाम व उसूलों की रौशनी में इज्तिहाद, ग़ौर व फ़िक्र करके नतीजे निकालो। अहकाम की वजहों पर नज़र रखो। सही क़ियास से काम लो और जो इबादतें और वज़ाइफ़ किसी ख़ास शक्ल में तय कर दिए गए हैं, उनमें हरगिज़ तब्दीली मत करो। चुनांचे इज्तिहाद व इसतिंबात (नतीजा निकालने) की मिसाल तो वह फ़िक्ह है जिसे उम्मत के उलमा और माहिरों ने क़ुरआन व हदीस की रौशनी में जमा किया और इबादतों और वज़ाइफ़ की मिसाल नमाज़, रोज़ा, हज, ज़कात वग़ैरा हैं कि उनके लिए जो तादाद, जो तफ़्सील, जो वक़्त और जो तरीक़ा मुक़र्रर कर दिया गया है, उसमें बाल बराबर भी तब्दीली की गुंजाइश नहीं। यह नहीं हो सकता कि फ़ज्र में दो की जगह चार या ज़ुहर में चार की जगह छः फ़र्ज़ पढ़ लिए जाएँ। रोज़े को मग़रिब की जगह इशा के वक़्त खोला जाए। हज में किए जानेवाले कामों (अरकाने-हज) की तरतीब और कैफ़ियत बदल दी जाए। या ज़कात की शरह में मनमानी तब्दीली कर दी जाए। अब रहे वे मामले जिनमें न तो कोई बुराई नज़र आती हो और न शरीअत ने उनसे रोका हो, मगर नबी (सल्ल॰) या सहाबा (रज़ि॰) के दौर में उन्हें इख़्तियार न किया गया हो, तो किसी ख़ास वजह और तक़ाज़े के पेश आ जाने पर उनको ज़रीए और वसीले के तौर पर इख़्तियार तो किया जा सकता है लेकिन उन्हें मुस्तक़िल इबादत की शक्ल देना और उनपर इसरार (आग्रह) व शिद्दत जाइज़ नहीं है।

बिदअत की हक़ीक़त को समझने में सतही सोच और समझ रखनेवालों को एक और मुशकिल पेश आती है, और वह यह कि अगर हर नई बात बिदअत है तो अनगिनत मामले ऐसे हैं जो प्यारे नबी (सल्ल॰) के मुबारक दौर में नहीं थे, न क़ुरआन व हदीस में उनको साफ़ तौर से बयान किया गया है लेकिन बाद के मुसलमान उन्हें अपनाए हुए हैं और तमाम उलमा-ए-इस्लाम उनके हलाल होने, बल्कि ज़रूरी और अहम होने को मानते और उसपर एकमत हैं। जैसे—दीनी किताबें

लिखकर छापना और बेचना, मदरसे बनाकर उनमें तनख़ाह पर तब्लीग़ करनेवाले और मुंहतमिम (प्रबन्धक) रखना, अंजुमनें बनाना, दफ़्तर खोलना और इसी तरह के दूसरे काम करना वग़ैरा।

यह उलझन अस्ल में दीन और इस्लाम के हुक्मों को न समझने का नतीजा है। ऐसा दस्तूर कोई हो ही नहीं सकता जिसमें तमाम छोटी-छोटी बातें भी बयान कर दी गई हों। दस्तूर में तो उसूली बातें बयान की जाती हैं और पसन्दीदा और नापसन्दीदा कामों और अक़ीदे की तशरीह बयान कर दी जाती है। अब यह आम लोगों का काम है कि अपने कामों और अक़ीदों को उसकी रौशनी में जाँचें और उन मक़सदों को पूरा करें जो दस्तूर चाहता है। क़ुरआन व हदीस ने इल्म को फैलाने का हुक्म जारी किया। अब यह इनसानों का काम है कि हर दौर के ज़रीओं और संसाधनों के मुताबिक़ इस हुक्म पर अमल करें और बेहतर से बेहतर इन्तिज़ाम के ज़रीए से इल्म फैलाने के मक़सद को पूरा करते रहें। किताबें छापना तो एक तरफ़, अगर रेडियो या किसी और ईजाद[1] को इस मक़सद का ज़रीआ बनाया जाए तब भी कोई ख़राब बात न होगी। क्योंकि उन संसाधनों और ज़रीए की हैसियत न तो दीन में कोई नई बात पैदा करने की है और न अपनी जगह ये इबादत हैं। बल्कि उनको अपनाना एक नेक मक़सद को हासिल करने के लिए है, जिसकी पाकीज़गी और ख़ूबी क़ुरआन और हदीस ने साफ़-साफ़ बयान की है। प्यारे नबी (सल्ल.) ने फ़रमाया, "(दूसरों तक) पहुँचाओ, चाहे मेरी ज़रा सी बात ही हो।" अब एक शख़्स को इख़्तियार है कि लोगों को हदीस सुनाने ऊँट पर बैठकर जाए या ट्रेन पर, फ़र्श पर बैठकर सुनाए या तख़्त पर। कोई भी ऐसा तरीक़ा जिसमें दीन के किसी और हुक्म की नाफ़रमानी न होती हो, उसके लिए जाइज़ होगा और बिदअत न कहलाएगा।

इन शुरुआती बातों के बाद अब समझिए कि बिदअत तौहीद की ज़िद (विलोम) कैसे है। बहुत सीधी-सी बात है कि क़ानून बनाना हर किसी का काम नहीं हुआ करता बल्कि मुल्क के लोग कुछ तय शुदा

---

[1] मिसाल के तौर पर आज के दौर में टेलिविज़न, इंटरनेट वग़ैरा। (अनुवादक)

लोगों को इस काम पर लगाते हैं या ग़ैर-जमहूरी (अलोकतान्त्रिक) निज़ामों में अकेले बादशाह या बादशाह और वज़ीर वग़ैरा क़ानून बनाते और लागू करते हैं। मुल्क भर में हरगिज़ किसी के लिए यह जाइज़ नहीं होता कि अपनी तरफ़ से कोई क़ानून निकाले। दीन के बारे में जब हमने यह मान लिया कि वह अल्लाह का एक मुकम्मल दस्तूर है और कायनात का ख़ालिक़ व मालिक और उसपर पूरा इख़्तियार रखनेवाला होने की वजह से अल्लाह ही इसका हक़दार भी है कि वह दस्तूर बनाए और हदें मुक़र्रर करे, तो यह बात आप से आप तय हो जाती है कि अल्लाह के सिवा किसी को क़ानून की एक भी नई दफ़ा (धारा) तराशने का इख़्तियार नहीं रहा और जो शख़्स ऐसा करेगा वह मानो ख़ुद को भी किसी न किसी दर्जे में ख़ुदाई क़ुव्वत व इक़्तिदार में शरीक समझेगा। इसी का नाम शिर्क है।

दूसरे पहलू से यह शिर्क कुफ़्र तक भी पहुँचता है और वह इस तरह कि दीन में दो ही तरह की चीज़ें हैं। एक तो यह जो अल्लाह से क़रीब होने और उसकी ख़ुशनूदी और इनाम पाने का ज़रीआ हैं, दूसरी वे जो उससे दूर होने और उसकी नाराज़गी और उसका अज़ाब पाने का सबब हैं। इनसान के पास तो ऐसी अक़्ल व गहरी समझ थी नहीं कि वह हज़ार परदे में छिपे अल्लाह तआला की मरज़ी को समझ सकता। वह हरगिज़ नहीं जानता था कि अल्लाह किन कामों, अक़ीदों और तरीक़ों से ख़ुश या नाराज़ हो सकता है और किन कामों पर इनाम और किन कामों पर अज़ाब दे सकता है। इस इल्म व ख़बर का सिर्फ़ एक ज़रीआ वही दीन है जिसे अल्लाह ने अपने प्यारे नबी (सल्ल॰) के ज़रीए से इनसानों तक पहुँचाया। इस दीन में वे तमाम तरीक़े और उसूल खोलकर बयान कर दिए गए जिनसे अल्लाह ख़ुश या नाराज़ होता है। कोई कमी उसमें नहीं छोड़ी गई, और ज़ाहिर है कि अल्लाह के काम में कमी कैसे हो सकती है! अब अगर कोई शख़्स बिल्कुल नया काम निकालता है जिसके लिए दीन में कोई हुक्म नहीं दिया गया और समझता है कि इससे अल्लाह से नज़दीकी बढ़ेगी और आख़िरत में सवाब मिलेगा तो मानो वह यह दावा करता है कि अल्लाह का दीन

अधूरा है जिसमें अल्लाह की-नज़दीकी हासिल करने का यह तरीक़ा बयान नहीं किया गया। साथ ही वह यह दावा भी करता है कि (अल्लाह माफ़ करे!) ख़ुद अल्लाह को वे तरीक़े मालूम न थे जो उसे ख़ुश करने के हो सकते हैं, तभी तो उसने मेरे बनाए हुए इस नए तरीक़े को बयान नहीं किया। वह इस बात का भी दावेदार है कि ख़ुदा का आख़िरी और सबसे अफ़ज़ल (सर्वश्रेष्ठ) रसूल भी अल्लाह की नज़दीकी पाने और सवाब हासिल करने का वह तरीक़ा नहीं पा सका जिसे मैंने पा लिया है। (अल्लाह हमें ऐसी बातों से बचाए!)

सच तो यह है कि नेक और अच्छे कामों से सवाब का हासिल होना कोई हिसाबी या साइंसी फ़ार्मूला नहीं है। यानी ऐसा नहीं है कि जिस तरह दो और दो चार ही होंगे या जिस तरह पानी आँच पाकर भाप लाज़िमी तौर पर बन जाएगा, उसी तरह इनसान अच्छे काम करके लाज़िमी तौर पर सवाब हासिल कर लेगा। बल्कि क़ुरआन व हदीस की तालीमात और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के सहाबा (रज़ि॰) और नेक व परहेज़गार लोगों का अमल इस बात पर गवाह है कि नेक काम तो सिर्फ़ वही हैं जिनके करने का हुक्म अल्लाह ने दिया हैं। ज़्यादा से ज़्यादा उनकी हैसियत उन महरबानियों के शुक्रिये की सी है जो अल्लाह ने इनसान पर बतौरे-अहसान कर रखी हैं। आख़िरत के जिन इनामों का वादा अल्लाह ने अच्छे कामों पर किया है वे इनसान को तभी मिलेंगे जब उसके अच्छे काम अल्लाह के यहाँ क़बूल भी कर लिए जाएँगे, न क़बूल हों तो हज़ार साल की इबादतें भी बेकार हैं।

अब ग़ौर यह करना चाहिए कि कौन-सा तरीक़ा है जिसे अपना कर यह उम्मीद हो सकती है कि अल्लाह हमारे आमाल को क़बूल कर लेगा। इसका एक ही जवाब है कि ख़ुद को सिर से पाँव तक अल्लाह के हुक्म का बन्दा बना लेना, अल्लाह के बताए हुए तरीक़ों को मज़बूती से पकड़ना और उसकी बताई हुई बातों को बिना कम-ज़्यादा किए ज़बानी और अमली तौर पर मान लेना क़बूल किए जाने की उम्मीद दिला सकता है। इबादत का अपना कोई नया तरीक़ा निकाल कर यह साबित करना कि अल्लाह की बताई हुई इबादतें काफ़ी नहीं हैं, अल्लाह के गुस्से व ग़ज़ब को भड़काने की वजह बनेगा। यही वजह है कि दीन

में अल्लाह की क़ायम की हुई हदों को पार करना बेहद नापसन्दीदा क़रार दिया गया है, चाहे ऐसा अल्लाह के हुक्मों में कमी के ज़रीए से किया जाए या उन हुक्मों में अपनी तरफ़ से बढ़ोत्तरी करके। अल्लाह तआला फ़रमाता है—

"ऐ किताबवालो! अपने दीन में हदों को पार न करो।"

(क़ुरआन, 4:171)

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने तीन बार फ़रमाया—

"हद से बढ़नेवाले बरबाद हुए।"

एक और मौक़े पर फ़रमाया—

"ख़बरदार! ग़ुलू (हद से आगे बढ़ने) से बचो। तुमसे पहले बहुतसों को ग़ुलू ने बरबाद किया।"

बिदअत चाहे इस मानी में हो कि सवाब हासिल करने के नए तरीक़े ईजाद किए जाएँ जिन्हें न अल्लाह और रसूल (सल्ल०) ने बताया, न सहाबा (रज़ि०) ने इख़्तियार किया, या इस मानी में हो कि अल्लाह और रसूल (सल्ल०) ने अक़ीदों और आमाल की जो हदें और सूरतें तय कर दी हैं उनमें आदमी बिला वजह बारीकियाँ और नुक्ते निकाले, या जिन हुक्मों, चीज़ों और बुलन्द मर्तबा रखनेवाले बन्दों के जो मर्तबे, जो अधिकार, जो दर्जे तय कर दिए गए उन्हें बढ़ाता चला जाए। दोनों ही सूरतें बरबादी व नुक़्सानवाली हैं।

अब मैं आगे बढ़ने से पहले आप लोगों के लिए कुछ बातें पेश करूँगा। अगर आप कुछ ऐसे आमाल व अक़ीदे रखते हैं जो मेरे पिछले और आनेवाले बयान की रौशनी में बिदअत ठहरते हैं तो आप नाराज़ न हों और मन मैला न करें, बल्कि इनसाफ़ के साथ ग़ौर करें कि दीन न मेरी जायदाद है, न आपकी। दीन में कुछ बढ़ाने या घटाने का न मुझे इख़्तियार है, न आपको। आप तो सिर्फ़ यह देखिए कि दीन तो क़ुरआन और सुन्नत का नाम है और क़ुरआन व सुन्नत के इल्म व रौशनी में जो अहकाम व उसूल निकलते हैं वही एक मुसलमान के लिए क़बूल करना ज़रूरी हैं, और जो तरीक़े और रस्में पाई जाती हैं वे जिस हद तक क़ुरआन और सुन्नत के ख़िलाफ़ हैं, उसी हद तक छोड़ देने और

बचने के लायक़ हैं। सिर्फ़ यह बात कि कुछ तरीक़ों को न सिर्फ़ आम लोगों ने बल्कि ख़ास लोगों ने भी क़बूल कर लिया है और उनपर अमल हो रहा है और उनकी शुरुआत करनेवालों में कुछ बड़े-बड़े नेक व परहेज़गार लोग शामिल हैं, इस बात के लिए काफ़ी नहीं है कि इसे दीन समझ लिया जाए। बल्कि दीन वही है जिसकी ताईद क़ुरआन और सुन्नत से हो और कोई दीनी उसूल उससे न टूटता हो। मैं किसी को ग़लत साबित करने के लिए नहीं बल्कि सिर्फ़ समझने-समझाने के तौर पर कुछ दीन के ख़िलाफ़ बातों और कामों का ज़िक्र करूँगा जिन्हें कुछ मुसलमानों ने दीन का हिस्सा बना लिया है। और यह तो आप भी जानते हैं कि मेरी बात को रद्द कर देना और अपने अक़ीदे पर अड़े रहना, मेरी दुनिया व आख़िरत के लिए कुछ नुक़सानदेह नहीं, बल्कि अगर मेरी बात हक़ीक़त में सही है तो नुक़सान ज़िद करने और अड़े रहनेवाले ही को होगा। मैं तो बड़े अदब और नर्मी के साथ उस अल्लाह की आयतें और दोनों जहाँ के सरदार उस सच्चे नबी (सल्ल॰), जिन्हें सब सच्चा कहते हैं, की बरकतवाली हदीसें आपके सामने पेश करता हूँ, जिनकी इताअत करना आप ज़रूरी मानते हैं। आप ख़ाली ज़ेहन होकर ख़ुलूस, ईमानदारी और सब्र व सुकून के साथ ग़ौर व फ़िक्र करें और देखें कि जो आमाल व अक़ीदे आपको हद से ज़्यादा प्यारे हैं उनमें किसी तरह की कमज़ोरी व ख़राबी तो नहीं है? उनपर अल्लाह की ख़ुशनूदी हासिल होने की जगह आप अल्लाह के अज़ाब के हक़दार तो नहीं बन रहे? फिर यह भी यक़ीन कीजिए कि यह गुज़ारिश मैं अपनी तरफ़ से नहीं कर रहा हूँ, बल्कि ख़ुद प्यारे नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया है—

> "तुममें से मेरे बाद जो ज़िन्दा रहेगा वह बहुत ज़्यादा इख़्तिलाफ़ देखेगा। तो ऐसी हालत में तुम्हें चाहिए कि मेरी सुन्नत और मुझसे हिदायत पाए हुए ख़ुलफ़ा-ए-राशिदीन के तरीक़े का सहारा लो और उसे दाँतों से पकड़ लो। और ख़बरदार! नए-नए कामों से बचना क्योंकि हर बिदअत गुमराही है और हर गुमराही का ठिकाना (जहन्नम की) आग है।"

क़्या आज के दौर में इख़्तिलाफ़ात (मतभेदों) की कोई गिनती की जा सकती है? क्या वह वक़्त नहीं आया कि प्यारे नबी (सल्ल॰) के इस फ़रमान पर अमल किया जाए?

सहाबा (रज़ि॰) के अमल का तरीक़ा

यह बात एक मोटी-सी अक़्ल का आदमी भी समझ सकता है कि जिन बिदअतों से अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल॰) ने रोका है, वे ऐसी नहीं होंगी जिनपर ज़ाहिरी हुक्मों के लिहाज़ से हर शख़्स उनके मना होने व बुरा होने का फ़तवा लगा सके। मना की हुई और बुरी चीज़ों व कामों के बारे में तो अल्लाह और उसके रसूल (सल्ल॰) ने कई जगह साफ़-साफ़ बता दिया है। बल्कि बिदअत से मुराद वही काम हो सकते हैं जो ज़ाहिरी शक्ल-सूरत के एतिबार से बज़ाहिर दीनी काम मालूम हों, लेकिन दीन में उनका हुक्म न दिया गया हो। ऐसे ही कामों को इनसान दीन में दाख़िल करने की कोशिश कर सकता है और ऐसे ही कामों से सवाब हासिल होने की ग़लत उम्मीद लगाई जा सकती है। चुनाँचे सहाबा किराम (रज़ि॰) ने इन हक़ीक़त को बहुत अच्छी तरह समझा और ऐसी एहतियात बरती कि हक़ अदा कर दिया। कुछ नमूने देखिए—

फ़ज्र व अस्र की नमाज़ के बाद इमाम का दाहिनी या बाईं तरफ़ मुड़कर बैठना एक जाना पहचाना और भला काम है। सही रिवायतों के ज़रीए से अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से इसकी तसदीक़ होती है। अब अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि॰) जैसे बड़े मर्तबेवाले सहाबी की बात सुनिए। फ़रमाते हैं—

> "तुममें से कोई शख़्स शैतान को अपनी नमाज़ में हिस्सेदार न बना ले, इस तरह कि वह सिर्फ़ दाहिनी तरफ़ मुड़ने की पाबन्दी करे, क्योंकि मैंने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को बहुत बार बाईं तरफ़ मुड़ते हुए भी देखा है।" (हदीस : मिश्कात, बुख़ारी व मुस्लिम के हवाले से)

मशहूर आलिमे-दीन मुल्ला अली क़ारी अपनी शरह में इसके तहत लिखते हैं—

"जिस किसी ने किसी मुस्तहब[1] काम पर ज़ोर दिया और उसपर मज़बूती से जमा और रुख़्सत (छूट) पर अमल नहीं किया, तो यक़ीनन इस ज़रीए से शैतान उसे गुमराह करने पहुँच गया। (तो जब मुस्तहब काम का यह मामला हो तो) उस शख़्स का क्या हाल होगा जो बिदअत या मुनकर (बुराई, जिससे शरीअत ने मना किया हो) पर ज़ोर दे।"

अगर आप यह कहें कि मुल्ला अली क़ारी की बात हम नहीं मानते तो आप यह कह सकते हैं, मगर अब्दुल्ला-बिन-मसऊद (रज़ि०) के बारे में तो आप ऐसा नहीं कह सकते। ख़ुद उनका यह क़ौल बता रहा है कि जो काम अपने आप में मुस्तहब हो लेकिन अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने उसकी पाबन्दी न की हो उसे भी पाबन्दी के साथ करना मानो यह मानी रखता है कि इस काम को ज़रूरी समझ लिया गया। हालाँकि दीन में जिस चीज़ को जो दरजा दिया गया है उसे उससे ज़्यादा दरजा देना भी उसी तरह बुरा है जिस तरह कम दरजा देना। फिर इसमें यह भी ग़ौर कीजिए कि नीयत और अक़ीदे का ज़िक्र अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि०) ने नहीं किया। यानी यह नहीं कहा कि दाहिनी तरफ़ मुड़ने को अक़ीदे के तौर पर ज़रूरी समझनेवाला और दूसरों को इस अक़ीदे की तालीम देनेवाला गुमराह है। ऐसे शख़्स को तो काफ़िर कहा जाता क्योंकि वह बाईं तरफ़ मुड़ने को मानो गुनाह ठहरा रहा है जबकि बाईं तरफ़ मुड़ना प्यारे नबी (सल्ल०) से साबित है। लिहाज़ा उसने (अल्लाह माफ़ करे!) प्यारे नबी (सल्ल०) को भी गुनहगार ठहराया। ऐसा नहीं बल्कि अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि०) ने ख़ुद इस तरीक़े को ही शैतानी काम ठहराया है कि इमाम हमेशा दाहिनी तरफ़ मुड़ा करे। इससे यह पता चला कि कोई भी ऐसा काम निकालना जो आम लोगों के नज़दीक अल्लाह से क़रीब होने और सवाब का ज़रीआ समझा जाए, हालाँकि क़ुरआन व सुन्नत से उसका इशारे से भी हुक्म न

[1] इबादतों में से वह काम जिसे प्यारे नबी (सल्ल०) ने पसन्द करके ख़ुद किया हो, या उसका सवाब बयान किया हो।

मिला हो, पूरी तरह बिदअत है, चाहे निकालनेवाले की नीयत उसे ज़रूरी ठहराने की न हो।

यही अ़ब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि॰) हैं जिन्होंने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के इन्तिक़ाल के बाद एक बार अपने कुछ शागिर्दों को देखा कि अल्लाह के ज़िक्र व इबादत के लिए एक जगह तय करके जमा होते हैं, तो आप नाराज़ हुए और डाँटते हुए कहा, "ऐ लोगो! क्या तुम अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से भी ज़्यादा हिदायत पाए हुए हो या गुमराही की तरफ़ दौड़ रहे हो?" दूसरी रिवायत में है कि आप (रज़ि॰) ने फ़रमाया, "अल्लाह के रसूल के ज़माने में तो मैंने इस तरह का ज़िक्र नहीं देखा, फिर तुम लोग क्यों यह नया तरीक़ा निकाल रहे हो?" नतीजा यह हुआ कि यह सिलसिला रुक गया। ग़ौर करने की बात है। अल्लाह के ज़िक्र जैसे पाक-साफ़ काम पर अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद (रज़ि॰) जैसे सहाबी नाराज़ हैं, सिर्फ़ इसलिए कि दीन के रंग में रंगी हुई उनकी पाक-साफ़ और दूर अंदेश निगाहें ख़ूब देखती हैं कि जो तरीक़े शुरू में बेहद ख़ुलूस और सिर्फ़ अल्लाह के लिए निकाले जाते हैं, वही कुछ वक़्त गुज़रने के बाद क्या से क्या बन जाते हैं। और उनकी नज़रें यह भी देखती हैं कि शैतान अल्लाह के मोमिन बन्दों को नबी (सल्ल॰) की सुन्नत और अल्लाह के फ़र्ज़ों से दूर ले जाने के लिए कैसी-कैसी ख़ूबसूरत चालें चलता है। वह जिन लोगों के बारे में जानता है कि ये दुनियावी चीज़ों की चमक-दमक की तरफ़ झुकनेवाले नहीं, उनके लिए दीन ही की शक्ल और रंग के जाल बुनता है। ज़मीन के रंग का ही जाल बिछाता है और बहुत कम अल्लाह के बन्दे उसकी चाल से बच पाते हैं। अब्दुल्लाह-बिन-मसऊद को यह बात बिल्कुल पसन्द न आई कि अल्लाह का ज़िक्र करने के लिए ऐसी इज्तिमाई शक्लें अपनाई जाएँ जिनकी तालीम अपने अमल से या अपनी ज़बान से अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने नहीं दी। तिर्मिज़ी में हज़रत (रज़ि॰) से रिवायत है कि—

> "एक शख़्स ने अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि॰) के बराबर में खड़े हुए छींका और कहने लगा, "अलहम्दुल्लिाहि वस्सलामु अला रसूलिल्लाह" (सारी तारीफ़ें अल्लाह के लिए और अल्लाह के

रसूल पर सलामती हो)। इब्ने-उमर ने फ़रमाया— "यह बात तो मैं भी कहता हूँ लेकिन अल्लाह के रसूल ने हमें इस तरह नहीं सिखाया है, बल्कि यूँ सिखाया कि हम हर हाल में "अलहम्दु लिल्लाह" कहें।" (हदीस : मिश्कात)

अन्दाज़ा कीजिए! "वस्सलामु अला रसूलिल्लाह" (अल्लाह के रसूल पर सलामती हो), कैसा पाकीज़ा जुमला है! लेकिन अब्दुल्लाह-बिन-उमर (रज़ि०) ने इसे भी पसन्द नहीं किया। क्यों? सिर्फ़ इसलिए कि छींक के बाद सिर्फ़ "अल्हम्दुलिल्लाह" कहना अल्लाह के रसूल के हवाले से हदीस की किताबों में लिखा है, और उसी पर बस करना दीन का तक़ाज़ा है। इस तक़ाज़े को इब्ने-उमर (रज़ि०) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ही से समझा था और यह बात उनकी नज़र में थी कि जिस जगह अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने 'नबी' लफ़्ज़ का इस्तेमाल किया हो वहाँ किसी को 'रसूल' कहने का भी इख़्तियार नहीं।

हज़रत उमर (रज़ि०) का यह अमल किसे मालूम नहीं कि आपने उस पेड़ को कटवा डाला था जिसके नीचे अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने बैअत ली थी और जिसकी ज़ियारत करने लोग आने लगे थे। क्यों? सिर्फ़ इसलिए कि उस पेड़ का वुजूद आम लोगों में बिदअत व शिर्क पैदा करेगा। फिर यह भी हज़रत उमर (रज़ि०) ही का वाक़िआ है कि हज के सफ़र से लौटते हुए जब रास्ते में एक ऐसी मस्जिद पड़ी जिसमें अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने नमाज़ अदा की थी तो लोग उसकी तरफ़ दौड़े। इसपर हज़रत उमर (रज़ि०) ने फ़रमाया, "ऐ लोगो! अहले-किताब इन ही बातों की वजह से बरबाद हुए कि उन्होंने अपने पैग़म्बरों की यादगारों को इबादतगाह बना डाला।"

अल्लाहु अकबर! हज़रत उमर (रज़ि०) की निगाह कितनी दूर तक देख रही थी। आप आज अपनी आँखों से हज़रत उमर (रज़ि०) की गहरी निगाह व सूझबूझ का नज़ारा कर लें। नबी (सल्ल०) तो बड़ी चीज़ हैं, नबी के पाँवों की धूल के बराबर बुज़ुर्गों की क़ब्रों और दरगाहों का हाल देखिए। जाहिल ही नहीं, पढ़े-लिखे लोग भी आपको मिलेंगे कि मिट्टी के टीलों पर माथा टेके हुए हैं और जिस इनसान को कभी यह रुतबा हासिल था कि फ़रिश्तों ने उसके आगे सजदा किया था, वही इनसान

मिट्टी के ढेरों के आगे झुका हुआ है। सहाबा (रज़ि॰) जैसे अज़ीम मोमिन व मुस्लिम और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) जैसे पैग़म्बर की मुहब्बत व अक़ीदत, लेकिन फिर भी हज़रत उमर (रज़ि॰) ने एक छिपे हुए ख़तरे और फ़ितने को उस अच्छे काम की गहराइयों में देख लिया था। वे फ़ारूक़ थे। हक़ व बातिल यानी सही और ग़लत के फ़र्क़ को समझनेवाले। उन्हीं के लिए अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा था, "अगर मेरे बाद कोई नबी हो सकता तो उमर (रज़ि॰) होते।"

बिदअत और दीन में नई-नई बातें निकालने से सहाबा किराम (रज़ि॰) को कितना परहेज़ था इसके लिए और बीसियों आसार (सहाबा की ज़िन्दगी के वाक़िआत) पेश किए जा सकते हैं, लेकिन मुझे चूँकि अभी बहुत कुछ कहना है, इसलिए इतने ही को काफ़ी समझते हुए आगे बढ़ता हूँ।

क़ब्रपरस्ती

क़ुरआन व सुन्नत के साफ़-साफ़ हुक्मों के बिल्कुल ख़िलाफ़ रिवाज पा जानेवाली बिदअतों में शायद सबसे बुरी लेकिन सबसे आम बिदअत क़ब्रपरस्ती है जो क़ाफ़ी मक़बूल (लोकप्रिय) हो चुकी है और जिसकी बहुत-सी सूरतें खुले शिर्क के दायरें में आती हैं। हमारे सामने आज तक एक भी दलील ऐसी नहीं आई जिससे मालूम हो सकता कि जो क़ब्रपरस्ती समाज में रिवाज पा गई है, वह क़ुरआन या हदीस के किस हुक्म या उसूल के तहत इख़्तियार की गई है। हमें तो ग़ौर व फ़िक्र और मुताले (अध्ययन) के बाद यही अन्दाज़ा हुआ कि क़ब्रपरस्ती की पूरी इमारत सिर्फ़ जहालत, नादानी, नफ़्सपरस्ती और तक़लीद (अंधानुकरण) पर खड़ी हुई है। आप के ग़ौर व फ़िक्र के लिए कुछ साफ़ दलीलें पेश की जा रही हैं—

अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

"क़ब्रों पर मत बैठो और उनकी तरफ़ मुँह करके नमाज़ न पढ़ो।" (हदीस : मुस्लिम, तिर्मिज़ी)

अगर किसी को इससे यह ग़लतफ़हमी हो कि इस हदीस में तो क़ब्र पर चढ़कर बैठने से मना किया गया है, तो यह दुरुस्त नहीं है। क्योंकि कभी और कहीं भी ऐसा नहीं देखा या सुना गया कि लोग क़ब्रों पर चढ़कर बैठते हों। लिहाज़ा प्यारे नबी (सल्ल॰) के हुक्म को इस मानी में लेना मानो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) पर यह इल्ज़ाम लगाना है कि आप बेकार की बातें भी करते थे।(अल्लाह हमें माफ़ करे!) ज़ाहिर है कि मना उसी चीज़ से किया जाता है जिसपर अमल किया जाता हो। अमल में यही चीज़ आती रही है कि लोग क़ब्रों के पास बैठते और उस बैठने को बरकत का सबब समझते रहे हैं। बाक़ाइदा दरगाहें बनी हैं और वहाँ नियाज़मन्दियों के मुख़्तलिफ़ तरीक़े अपनाए गए हैं। इसी से प्यारे नबी (सल्ल॰) ने मना किया है।

हैरत की बात है कि लोग हज़रत आदम (अलै॰) और हज़रत यूसुफ़ (अलै॰) को सजदा किए जाने की दलील लाते हैं।[1] हालाँकि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने क़ब्रों को सजदा करना तो बहुत दूर क़ब्रों की तरफ़ रुख़ करके नमाज़ पढ़ने तक से मना कर दिया कि इसमें दूसरों के शक-शुब्हे में पड़ जाने का अन्देशा है और देखनेवाला इस ग़लत-फ़हमी में पड़ सकता है कि क़ब्र को सजदा किया जा रहा है। फिर यह भी न कहा जाए कि नमाज़ तो चूँकि क़िब्ला (काबा) की तरफ़ मुँह करके पढ़नी चाहिए, इसलिए क़ब्र की तरफ़ मुँह करके नमाज़ पढ़ने

---

[1] फ़रिश्तों ने हज़रत आदम (अलै॰) को जो सजदा किया उसकी हैसियत बन्दगी की न थी, यानी फ़रिश्तों ने यह सजदा इसलिए नहीं किया था कि वे हज़रत आदम (अलै॰) को तमाम इख़्तियारात का मालिक मानते हुए उन्हें मुश्किलकुशा, फ़रियाद सुनने और बिगड़ी बनानेवाला समझते थे, बल्कि फ़रिश्तों को इसका हुक्म ख़ुद अल्लाह तआला ने दिया था। लिहाज़ा इस हुक्म पर अमल करना फ़रिश्तों के लिए ज़रूरी था। रही बात भाइयों के ज़रीए से यूसुफ़ (अलै॰) को सजदा करने की तो उसकी हैसियत भी किसी बादशाह का अदब व एहतिराम करने से ज़्यादा न थी। उन सजदे से मज़ारों पर किए जानेवाले सजदों के लिए दलील बनाना सख़्त नादानी और हठधर्मी की बात है, जिनमें क़ब्र में दफ़्न हस्तियों को ग़ैर-मामूली और ग़ैर-इनसानी क़ुव्वतों का मालिक समझते हुए उनके सामने गिड़गिड़ाया जाता है और उनसे अपनी बिगड़ी हुई तक़दीर बनाने की फ़रियाद की जाती है। (अनुवादक)

से मना किया। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का यह हुक्म दरअस्ल उसी सूरत के लिए है जब कि क़ब्र क़िब्ले की तरफ़ पड़ रही हो, वरना कौन दीवाना मुसलमान होगा जो क़िब्ले के लिए किसी दूसरी तरफ़ मुँह करके नमाज़ पढ़ेगा।

हज़रत अली (रज़ि॰) ने फ़रमाया—

> "क्या मैं तुम्हें उस मुहिम पर न भेजूँ जिसपर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने मुझे भेजा था, यह कि तुम किसी मूर्ति को मिटाए बिना न रहो और किसी ऊँची क़ब्र को बराबर किए बिना न छोड़ो।" (हदीस : मुस्लिम, तिर्मिज़ी)

यह मैं नहीं कह रहा, परहेज़गारों के इमाम, चौथे ख़लीफ़ा और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के दामाद हज़रत अली (रज़ि॰) कह रहे हैं।

हज़रत आइशा (रज़ि॰) और हज़रत इब्ने-अब्बास (रज़ि॰) से रिवायत है—

जब अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की साँस उखड़ने लगी तो आपने चेहरे पर चादर खींच ली। जब साँस घुटती तो चादर हटा देते। इसी कैफ़ियत में फ़रमाया :

> यहूदियों और ईसाइयों पर अल्लाह की लानत हो जिन्होंने अपने नबियों की क़ब्रों को इबादतगाह बना लिया।" ऐसा कहकर आप (सल्ल॰) उम्मत को इस तरह की हरकतों से डरा रहे थे। अगर यह बात न होती तो ख़ुद अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की क़ब्र खुली रखी जाती; लेकिन इसी डर से कि उसे इबादतगाह बना लिया जाएगा, बन्द रखा गया।
>
> (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

अन्दाज़ा कीजिए! क़ब्रों को सजदागाह बनाने से अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को कितनी नफ़रत व कराहत थी। आप (सल्ल॰) किसी के लिए "लानतुल्लाह" (अल्लाह की लानत हो) के अल्फ़ाज़ बहुत ही कम कहा करते थे लेकिन इस काम के करनेवालों पर आप (सल्ल॰) आख़िरी वक़्त में किस दर्दमन्दी से लानत भेज रहे हैं। फिर नबियों की क़ब्रों का

जब यह मामला हो तो उन लोगों पर कितनी लानत बरसेगी जो नबियों से बहुत कम दरजे के बुज़ुर्गों की क़ब्रों को इबादतगाह बनाए हुए हैं।

ध्यान रहे कि नबियों के सिवा दूसरे बुज़ुर्गों की क़ब्रों का ज़िक्र भी हदीसों में मिलता है। हज़रत उम्मे-हबीबा (रज़ि॰) और हज़रत उम्मे-सलमा (रज़ि॰) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के सामने हबश के दो ऐसे गिरजाघरों का ज़िक्र किया जिनमें उन्होंने तस्वीरें देखी थीं। इस पर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "उन लोगों का तरीक़ा यह है कि जब उनमें से कोई नेक आदमी मर जाता है तो उसकी क़ब्र को सजदागाह बना लेते हैं और बुज़ुर्गों की तस्वीरें बना लेते हैं। यही लोग क़ियामत के दिन अल्लाह तआला के नज़दीक सबसे बुरी मख़लूक़ होंगे।" (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

ऊपर बयान की गई हदीस की रौशनी में आज की क़ब्रपरस्ती और दरगाहें बनाने को बख़ूबी समझा जा सकता है। एक मिसाल और देखिए—

अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा—

> "ऐ अल्लाह! मेरी क़ब्र को बुत न बना देना, जिसे पूजा जाए। उस क़ौम पर अल्लाह का सख़्त ग़ज़ब (प्रकोप) आए जो अपने नबियों की कब्रों को इबादतगाह बना ले।"
>
> (हदीस : मुअत्ता इमाम मालिक)

एक और हदीस देखिए, अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "ख़बरदार रहो! तुमसे पहले के लोगों ने अपने नबियों और नेक लोगों की क़ब्रों को इबातदगाह बना लिया था। ख़बरदार! तुम हरगिज़ क़ब्रों को इबादतगाह न बनाना। मैं तुम्हें इससे मना करता हूँ।" (हदीस : मुस्लिम)

रोकने और मना करने का वह कौन-सा साफ़ और खुला अन्दाज़ है जो इस सिलसिले में प्यारे नबी (सल्ल॰) ने नहीं अपनाया। डराने और ख़बरदार करने के जो सबसे ज़्यादा साफ़ अल्फ़ाज़ हो सकते थे आप (सल्ल॰) ने बार-बार इस्तेमाल किए, फिर भी अगर मुसलमान इसपर

ध्यान न दे तो सोचिए कि नबी (सल्ल॰) की पाक रूह पर क्या गुज़रेगी और आख़िरत में ऐसे इनसान के साथ क्या सुलूक किया जाएगा!

एक रिवायत है—

"अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने क़ब्र को गच करने (चूने, कंक्रीट वग़ैरा से पक्की करने) से, उसपर बैठने से और उसपर इमारत बनाने से मना किया है।" (हदीस : मुस्लिम, तिर्मिज़ी, अबू-दाऊद, नसई, मुअत्ता इमाम मुहम्मद)

एक और रिवायत के मुताबिक़ आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

"सबसे ज़्यादा बुरे हैं वे लोग जिनकी ज़िन्दगी में क़ियामत आएगी (यानी क़ियामत के वक़्त वे मौजूद होंगे) और सबसे ज़्यादा बुरे हैं वे लोग जो क़ब्रों को मस्जिदें बना लेंगे।"

(हदीस : मुसनद अहमद, इब्ने-हिब्बान)

हज़रत इब्ने-अब्बास (रज़ि॰) से एक रिवायत और है—

"अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने क़ब्रों की ज़ियारत करनेवाली औरतों पर, क़ब्रों को मस्जिदें बना लेनेवालों पर और उनपर चिराग़ जलानेवालों पर लानत की है।"

(हदीस : इब्ने-माजा, तिर्मिज़ी, नसई, अबू-दाऊद)

यानी औरतों के लिए क़ब्रों की ज़ियारत करना अपने आप में ख़ुद ही लानत के क़ाबिल काम है, चाहे वे वहाँ कोई मुशरिकाना काम करें या न करें। यह ग़लतफ़हमी न होनी चाहिए कि ऊपर बयान की गई रिवायतों में लफ़्ज़ 'मस्जिद' से मुराद गुंबदों और मीनारोंवाली मस्जिद है जिसमें मुसलमान बा-जमाअत नमाज़ अदा करते हैं, बल्कि यहाँ 'मस्जिद' से मुराद क़ब्रों को ऐसी जगह बना लेना है जहाँ इबादत की क़िस्म का कोई काम किया जाए, या मेला लगाया जाए। चुनाँचे यह तशरीह प्यारे नबी (सल्ल॰) के क़ौल (कथन) से साबित है। आपने फ़रमाया—

"मेरे लिए सारी ज़मीन मस्जिद और पाक बना दी गई।"[1]

---

[1] सारी ज़मीन को मस्जिद क़रार देने का एक मक़सद हम इनसानों के दिल व दिमाग़ में यह हक़ीक़त बिठाना भी हो सकता है कि मस्जिद नाम की वह इमारत

ज़ाहिर है कि मस्जिद से मुराद यही है कि जहाँ चाहूँ अल्लाह की इबादत कर लूँ। यह ज़रूरी नहीं है कि मस्जिद नाम की ख़ास इमारत ही में इबादत हो सके। घर, जंगल, रेगिस्तान, हर जगह नमाज़ और इबादत अदा हो सकती है। और फ़रमाया—

"मेरी क़ब्र को ईद (मेले) की जगह न बनाना।"

अरब के काफ़िरों के कई बुतों, जैसे—वद्द, सुवाअ, यग़ूस, यऊक़ और नस्र के बारे में तो बुख़ारी में हज़रत अब्दुल्लाह-बिन-अब्बास (रज़ि॰) की यह तशरीह लिखी हुई है कि ये सब हज़रत नूह (अलै॰) की क़ौम के नेक लोग थे, जिन्हें बाद में बुत बनाकर पूजा गया। मशहूर बुत लात के बारे में इब्ने-जरीर ने मुजाहिद जैसे बड़े आलिम और फ़क़ीह (इस्लामी उसूलों व क़ानूनों की गहरी समझ रखनेवाले) की रिवायत बयान की है कि यह एक शख़्स था जो लोगों को सत्तू घोलकर पिलाया करता था। यानी पहले ही से अधर्मियों में नेक लोगों को उनकी मौत के बाद पूजने की बीमारी चली आ रही है और यही बीमारी आज बहुत-से मुसलमानों में पाई जाती है। इतनी जुरअत तो उनसे न हो सकी कि बाक़ाइदा बुत तराश लेते, लेकिन बुज़ुर्गों की क़ब्रों—कुछ हालतों में नक़ली और फ़र्ज़ी क़ब्रों तक—के साथ पूजा और बन्दगी का ही मामला है।

क़ब्रों पर मेले और उर्स

एक तरफ़ तो उस हदीस को देखिए जिसमें तीन मस्जिदों के सिवा किसी भी मस्जिद या मज़ार व दरगाह की तरफ़ बाक़ाइदा सफ़र करने

(जिसमें हम नमाज़ पढ़ते हैं) ही इस क़ाबिल नहीं कि उसमें हम अल्लाह का डर महसूस करते हुए बुरे कामों से बचें (और उससे बाहर निकलते ही हम कुछ भी करने के लिए आज़ाद हैं), बल्कि हमारे लिए तो यह पूरी दुनिया ही मस्जिद की हैसियत रखती है क्योंकि अल्लाह ने हमें इस दुनिया में सिर्फ़ अपनी इबादत (ज़िन्दगी के तमाम मामलों में अल्लाह के हुक्मों पर अमल करने) के लिए भेजा है। लिहाज़ा दुनिया में कहीं भी रहते हुए यह हक़ीक़त हर वक़्त हमारे सामने रहनी चाहिए कि यह पूरी ज़मीन हमारे लिए मस्जिद जैसी और पाक-साफ़ है, इसलिए अल्लाह से डरते हुए हमें कहीं भी कोई बुरा काम न करना चाहिए। (अनुवादक)

से रोका गया है। उस हदीस का यह मतलब तो बिल्कुल नहीं है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने हर तरह के सफ़र ही को मना कर दिया। बल्कि उलमा इसपर एकमत हैं कि इसका यह मतलब है कि अल्लाह की नज़दीकी हासिल करने के लिए और सवाब की नीयत से सिर्फ़ तीन मस्जिदें हैं जिनकी तरफ़ सफर करना जाइज़ है, मस्जिदे हराम, मस्जिदे नबवी, और मस्जिदे अक़सा। इसके अलावा अल्लाह से नज़दीकी की नीयत से सफ़र करना नाजाइज़ है।

दूसरी तरफ़ अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के उस फ़रमान को देखिए जिसे पहले भी नक़्ल किया जा चुका है— ला तजअलू क़ब्री ईदा (मेरी क़ब्र को ईद न बना लेना।)

"ईद" के मानी है बार-बार लौटकर आना। हर वह जगह ईद है जहाँ लोग बार-बार जाते हैं। हर वह ज़माना और वक़्त ईद है जिसमें कोई काम बार-बार किया जाता है। हर वह मजमा (भीड़) ईद है जो बार-बार इकट्ठा होता है। सहीह रिवायतें गवाह हैं कि सहाबा (रज़ि॰) और ताबिईन (रह॰) और इमामों व नेक बुज़ुर्गों ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का हुक्म माना और आप (सल्ल॰) की क़ब्र को ईद नहीं बनाया। वहाँ के लिए तयशुदा वक़्तों में जमा होना, या अकेले जाना जाइज़ नहीं समझा। सहाबा (रज़ि॰) में से कुछ लोग कोई वक़्त तय किए बिना और बिना पाबन्दी के जाते तो क़ब्र पर खड़े होकर सिर्फ़ सलाम कहते। क्योंकि सलाम का हुक्म अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने दिया था और कुछ सहाबा (रज़ि॰) बहुत दूर ही से सलाम कह लेते।

यह तो था अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) और कुछ सहाबा (रज़ि॰) की तालीम का हाल। अब ज़रा हमारे ज़माने के उर्सों और साल-के-साल लगनेवाले मेलों का हाल देखिए और अन्दाज़ा कीजिए कि बहुत-से मुसलमान किस दिलचस्पी और शौक़ से हर साल क़ब्रों के मेलों में जाते हैं और अनगिनत ख़ुराफ़ात व बुराइयों में पड़ जाते हैं।

क़ब्रों पर दुआ

क़ब्रों पर जाकर क़ब्रवालों से कुछ माँगना तो खुला शिर्क है ही लेकिन क़ब्रों पर जाकर बिना किसी वास्ते के सीधे-सीधे अल्लाह से दुआ माँगने की फ़ज़ीलत व ख़ुसूसियत भी क़ुरआन व सुन्नत में कहीं नहीं मिलती। यानी ऐसा कहीं लिखा हुआ नहीं मिलता कि क़ब्रों के पास दुआ माँगना दूसरी जगहों के मुक़ाबले में ज़्यादा अच्छा और बरकत का सबब हो। जितनी भी रिवायात हैं, उनमें सिर्फ़ मुर्दों के लिए दुआ है या कुछ ऐसे अल्फ़ाज़ हैं जिनसे इनसान को इबरत हासिल होती है। जैसे—

"अस्सलामु अला अहलिद-दियारि मिनल-मुअ्मिनी-न वल-मुस्लिमी-न व अना इन्शाअल्लाहु बिकुम लाहिक़ू-न नसअलु लना व लकुमुल-आफ़ियः।"

(सलाम पहुँचे उन बस्तियों के मोमिनों और मुस्लिमों को। हम इंशा-अल्लाह तुमसे मिल जानेवाले हैं। हम अपने और तुम्हारे लिए आफ़ियत के तलबगार हैं।)

(हदीस : मुस्लिम)

"अस्सलामु अ़लैकुम दा-र क़ौमिन-मुअ्मिनी-न अन्तुम फ़-रतुँव-व-नह्नु बिकुम लाहिक़ून अल्लाहुम-म ला तहरिमना अजूरहुम व ला तफ़्तिन्ना बअ्-दहुम"

(ऐ मोमिनो! तुमपर सलामती हो। तुम हमसे पहले आ गए हो और हम तुम्हारे पीछे आनेवाले हैं। ऐ अल्लाह! हमें इनके सवाब से महरूम न कर और हमें इनके बाद फ़ितने में न डाल।)

(हदीस : इब्ने-बाद)

इन दुआओं में अस्ली मक़सद गुज़रे हुए लोगों के लिए दुआ है और साथ ही अपने लिए भलाई व कामयाबी की तलब है। हमारे ज़माने में गुज़रे हुए लोगों के लिए दुआ तो इसलिए नहीं करते कि उनकी नजात व मग़फ़िरत पर हम ईमान ला चुके हैं। ख़ुद अपने लिए दुआ करते हैं और यह समझते हैं कि क़ब्रवाले साहब की बरकत और फ़ज़ीलत से दुआ असरदार हो जाएगी। ऐसा समझना ग़लत और शरीअत के ख़िलाफ़ है, क्योंकि क़ुरआन व सुन्नत में इसके लिए कोई तालीम नहीं दी गई। पता नहीं किन लोगों ने यह बात गढ़कर फैला दी

कि इमाम शाफ़ई (रह०) यह कहा करते थे कि जब कभी मुझपर कोई मुश्किल आ पड़ती है तो मैं इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) की क़ब्र पर आकर दुआ करता हूँ और मुश्किल दूर हो जाती है। यह सिर्फ़ झूठी रिवायत है जो न तो रिवायत को जाँचने के मुसल्लमा (जिसे सब मानते हों) उसूलों पर सही उतरती है, न अक़्ल व क़ियास के मुताबिक़ है। इमाम शाफ़ई (रह०) तो अपनी तहरीरों में क़ब्रों की ताज़ीम व तकरीम को मकरूह (नापसन्दीदा) क़रार देते हैं। उन्होंने हिजाज़ व यमन, इराक़ व शाम (सीरिया) और मिस्र वग़ैरा में कितने ही सहाबा (रज़ि०) और ताबिईन की क़ब्रें देखीं लेकिन कभी किसी क़ब्र की तरफ़ रुजूअ नहीं हुए। हालाँकि सहाबा (रज़ि०) तो ज़ाहिर है इमाम अबू-हनीफ़ा (रह०) से कई दरजे अफ़ज़ल थे। सच तो यह है कि इमाम शाफ़ई (रह०) जब बग़दाद में तशरीफ़ लाए तो न वहाँ किसी क़ब्र पर लोग आते थे, न यह बुरा तरीक़ा उस दौर में पाया जाता था।

कुछ लोग मशहूर बुज़ुर्ग मारूफ़ करख़ी (रह०) की क़ब्र के बारे में किसी बुज़ुर्ग की कही हुई यह बात बयान करते हैं कि उनकी क़ब्र दुआ क़बूल होने के मामले में बहुत असर रखती है और ख़ुद मारूफ़ करख़ी (रह०) ने अपने भतीजे को यह वसीयत की थी कि मेरी क़ब्र पर आकर दुआ किया करे। इसके अलावा कुछ नेक व परहेज़गार लोगों के बारे में कहा जाता है कि वे नेक बुज़ुर्गों और नबियों की क़ब्रों पर आकर दुआएँ किया करते थे और दुआएँ क़बूल हो जाती थीं। यही नहीं, कुछ फ़क़ीहों ने क़ब्र पर क़ुरआन पढ़ने को जाइज़ लिखा है। या कुछ लोगों ने अपने तजरिबे बयान किए कि फ़ुलाँ शैख़ के मज़ार पर हमने दुआ की और वह क़बूल हो गई या कुछ उलमा और परहेज़गार लोग क़ब्रों पर दुआएँ करते और झुकते देखे गए लिहाज़ा ये लोग जाहिल और शरीअत को छोड़नेवाले नहीं हो सकते।

इस तरह की दलीलें लाना दीन व शरीअत को न जानने का नतीजा है। जहाँ तक दुआ के क़बूल होने का ताल्लुक़ है तो कोई भी यक़ीन के साथ यह दावा नहीं कर सकता कि वह किस लिए क़बूल हुई या रद्द कर दी गई। दुआ घर के कोने में भी क़बूल होती है और

अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की क़ब्र तक पर रद्द हो जाती है। दुआ काफ़िरों, मुशरिकों और सख़्त गुनाहगारों की भी क़बूल होती है और काफ़िर यह समझते हैं कि हमारे फ़ुलाँ अमल की वजह से या फ़ुलाँ गिरजाघर की बरकत से दुआ क़बूल हुई। हिन्दुओं में भी आमतौर पर कहा जाता है कि फ़ुलाँ मन्दिर, फ़ुलाँ स्थान या फ़ुलाँ घाट पर दुआ बहुत जल्द क़बूल होती है। सच तो यह है कि अल्लाह काफ़िरों और मुसलमानों सबकी दुआएँ क़बूल भी करता है और रद्द भी कर देता है। वह पूरी कायनात का रब है। अगर किसी क़ब्र पर दुआ करने से फ़ौरन क़बूल हो जाए तो यह हरगिज़ नहीं समझना चाहिए कि यह दुआ उस क़ब्र या क़ब्रवाले बुज़ुर्ग की बरकत से क़बूल हुई है, बल्कि यह समझना चाहिए कि यह वक़्त ही अल्लाह ने दुआ की क़बूलियत का रखा था और इस वक़्त किसी भी जगह यह दुआ माँग ली जाती तो क़बूल हो जाती।

रहा कुछ बुज़ुर्गों का क़ौल, तो अव्वल तो उस क़ौल की रिवायतें ही मुस्तनद नहीं हैं। दूसरे, किसी शख़्स का बुज़ुर्ग होना इस बात के लिए काफ़ी नहीं है कि उसका हर इज्तिहाद (दीन के मामले में राय) दुरुस्त ही मान लिया जाए। अगर वह मुज्तहिद का दरजा रखता है (यानी उसे यह हक़ हासिल है कि क़ुरआन और हदीस में बयान किए गए उसूलों पर ग़ौर करके किसी नए मसले में अपनी राय दे सके) तो यह तो आप कह सकते हैं कि उसे इस इज्तिहाद पर कोई गुनाह नहीं हुआ, बल्कि कुछ हद तक इज्तिहाद का सवाब ही मिला। लेकिन जो लोग सिर्फ़ तक़लीद में इसे अपना लेते हैं, वे यक़ीनन ग़लती पर हैं। क्योंकि तक़लीद करनेवाले के लिए यह मामला इज्तिहादी नहीं (कि इसपर गुनाह न हो), बल्कि ग़लत इज्तिहाद की पैरवी है जिसे किसी भी तरह दुरुस्त नहीं कहा जा सकता। क़ौल (कथन) के बाद अमल का नम्बर आता है, तो उसका भी यही हाल है कि किसी बुज़ुर्ग का ज़ाती और ख़ास अमल शरीअत की दलील नहीं बन सकता। हर दौर में क़ब्रों की ताज़ीम और उसपर दुआ की मुख़ालफ़त करनेवाले बहुत-से उलमा रहे हैं। लिहाज़ा अगर कुछ उलमा व नेक बुज़ुर्ग क़ब्रों की ताज़ीम और

उसपर दुआ को दुरुस्त भी कहें तो यह मसला इख़्तिलाफ़ी हुआ और इख़्तिलाफ़ी मसलों में अल्लाह का खुला हुक्म है कि—

"यानी उस विवाद और इख़्तिलाफ़ात को क़ुरआन और हदीस की तालीमात की रौशनी में हल करो।" (क़ुरआन, 4:59)

और यह भी समझ लेना चाहिए कि दुआ का क़बूल किया जाना अलग बात है और मना किए गए काम की सज़ा अलग। आप देखते हैं कि एक अधर्मी बुत या सलीब के सामने गिड़गिड़ाता है और अल्लाह उसकी दुआ क़बूल कर लेता है। तो क्या उसकी दुआ क़बूल होने के बावुजूद उसको उन काफ़िराना कामों की सज़ा न मिलेगी? मिलेगी और ज़रूर मिलेगी! इसी तरह अगर कोई मुसलमान क़ब्र पर जाकर दुआ करता है और वह दुआ क़बूल हो जाती है, तो ग़लत अक़ीदा रखने और मना किए गए काम को करने की वजह से उसे अज़ाब तो हर हाल में मिलेगा। सिवाय इसके कि वह तौबा करले और दोबारा यह काम न करे।

फिर कुछ दुआओं का क़बूल होना भी अल्लाह के अज़ाब की एक शक्ल होती है। आदमी अपनी समझ से जो चीज़ फ़ायदेमन्द समझता है, माँगता है, लेकिन अकसर ऐसा होता है कि यही चीज़ उसके लिए मुसीबत व बरबादी का सबब बन जाती है। मिसाल के तौर पर एक शख़्स सअलबा ने प्यारे नबी (सल्ल०) से दरख़ास्त की "मेरे लिए दुआ करें कि मुझे ज़्यादा से ज़्यादा माल और औलाद मिले।" आप (सल्ल०) ने कहा, "ऐसी ख़ाहिश मत कर, तुझे नुक़सान रहेगा।" लेकिन उसने ज़िद की और आप (सल्ल०) ने दुआ कर दी जो क़बूल हो गई। मगर यही चीज़ उसके लिए तबाही का सबब बन गई। चुनाँचे जब माल मिला तो उसने ज़कात तक निकालने से इनकार कर दिया। ऐसी ही मिसालें आप अपने आस-पास देख सकते हैं। औलाद की दुआ क़बूल होती है तो कुछ हालतों में यही औलाद माँ-बाप के लिए हज़ारों परेशानियों का सबब बन जाती है। इसी तरह दूसरे मामलों को भी समझा जा सकता है।

क़ब्रों की ज़ियारत

क़ब्रों की ज़ियारत की बेशक प्यारे नबी (सल्ल॰) ने इजाज़त दी है लेकिन साथ ही इसकी वजह भी बयान कर दी है कि मौत को याद रखो! मौत को याद रखने का मक़सद यह है कि आदमी मौत को याद रखेगा तो अच्छे काम करने की कोशिश करेगा, बुराइयों से बचेगा और दुनिया की ज़िन्दगी में मग्न नहीं होगा। अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया—

> "मैंने अल्लाह से अपनी माँ की मग़फ़िरत (की दुआ करने) की इजाज़त चाही तो मना कर दिया गया, मगर उनकी क़ब्र की ज़ियारत की इजाज़त माँगी तो मिल गई।"
>
> (हदीस : मुस्लिम)

दूसरी रिवायत मुस्लिम ही में है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने अपनी माँ की क़ब्र की ज़ियारत की और इतना रोए कि जो सहाबा (रज़ि॰) साथ थे, वे भी रोने लगे। आप (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "मैंने अपनी माँ के लिए मग़फ़िरत चाही तो इनकार कर दिया गया लेकिन क़ब्र पर आने की इज़ाज़त दे दी गई। लिहाज़ा क़ब्रों की ज़ियारत किया करो क्योंकि वे मौत की याद दिलाती हैं।

प्यारे नबी (सल्ल॰) के तरीक़े पर ग़ौर कीजिए, फिर यह देखिए कि आज कितने लोग मौत को याद करने क़ब्रों पर जाते हैं। ज़ाहिर है कि लोगों ने क़ब्रों की ज़ियारत के हुक्म की अस्ल वजह ही को भुला दिया और अब नेक व परहेज़गार लोगों की क़ब्रों पर सिर्फ़ अल्लाह की नज़दीकी और बरकत व ख़ुशनसीबी हासिल करने के लिए मेले लगाने लगे और मौत की सबक़-आमोज़ वीरानी और ख़ामोशी को राग-रंग, शोर-शराबे और अल्लाह की नाफ़रमानी के कामों में बदल दिया। कितने अफ़सोस की बात है! ऊपर बयान किए गए अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के अमल से ज़्यादा से ज़्यादा यह नज़रिया लिया जा सकता है कि अपने किसी रिश्तेदार या दोस्त की क़ब्र पर बतौर मुहब्बत जाना जाइज़ है, तो

इसमें भी कुछ एतिराज़ नहीं, लेकिन यह सिर्फ़ रस्मी चीज़ नहीं बन जानी चाहिए, न इसे इज्तिमाई शक्लें देना दुरुस्त है।

राग-रंग और क़व्वाली

"समाअ्"[1] के नाम से जो ख़ुराफ़ात और बुराइयाँ रिवाज पा गई हैं, वे सबको मालूम हैं। क़ुरआन, हदीस, सहाबा (रज़ि॰) के अमल और सहीह क़ियास से तो उनके जाइज़ होने की कोई दलील मिलती ही नहीं, लिहाज़ा कुछ बाद के नेक लोगों के अमल को बुनियाद बनाकर लोगों ने यह तरीक़ा इख़्तियार किया और उसमें इतने बढ़ गए कि जो काम साफ़ तौर पर हराम थे और जिनका बुरा होना जग ज़ाहिर था, उन्हें भी किया जाने लगा। अव्वल तो पिछले कुछ बुज़ुर्गों ने जो "समाअ्" इख़्तियार किया यह उनका ज़ाती अमल था, जो दूसरों के लिए हरगिज़ दलील नहीं बन सकता। फिर यह कि उन्होंने बहुत सख़्त शर्तें उसके लिए रखीं थी, जिनकी तफ़सील उनके क़ौल व अमल में मिलती है। आज वे शर्तें बिल्कुल नज़रअन्दाज़ कर दी गई हैं और सिर्फ़ फ़ुज़ूल, बेहूदा, बनावटी और झूठी बातें अपना ली गई हैं। हम नहीं जानते कि सही अक़्ल और समझ-बूझ रखनेवाला वह कौन मुसलमान हो सकता है जो ख़ुलूस के साथ क़ुरआन और सुन्नत का मुताला (अध्ययन) करे और फिर आजकल के उर्सों, क़व्वालियों और नाच-गानों की अहमियत और उन्हें नेक काम समझने का गुमान भी दिल में ला सके।

बिदअत की कसौटी

यहाँ मुनासिब होगा कि क़ुरआन व सुन्नत की रौशनी में ऐसी कसौटी आपके सामने रख दी जाए जिसपर आप किसी भी बात या

---

[1] अरबी में 'समाअ्' का मतलब होता है 'सुनना'। मगर उर्दू में यह लफ़्ज़ ख़ास तौर से मज़ारों और दरगाहों पर होनेवाली क़व्वाली और राग-रंग की महफ़िलों के लिए इस्तेमाल होता है। (अनुवादक)

अमल को परखकर यह फ़ैसला कर सकें कि यह बिदअत है या जाइज़ काम। रद्द किए जाने लायक़ है या क़बूल किए जाने के क़ाबिल।

अरबी लुग़त (शब्दकोश) में लफ़्ज़ "बिदअत" के मानी हर उस काम के हैं जो नया-नया किया गया हो और उससे पहले उसपर अमल न हुआ हो। लेकिन शरीअत में लुग़वी मफ़हूम (शाब्दिक अर्थ) मुराद नहीं बल्कि मुराद सिर्फ़ वे नए काम हैं जिन्हें दीन का हिस्सा बनाया जा रहा हो। यह इतनी सीधी और साफ़ बात है कि मुख़ालफ़त करनेवाले या नासमझ आदमी के सिवा कोई इससे मुँह नहीं फेर सकता।

आदमी जो भी काम करता है, उसका कुछ न कुछ मक़सद और मंशा ज़रूर होता है। अब देखना चाहिए कि यह मक़सद दुनिया का कोई फ़ायदा व मस्लहत है या उनका ताल्लुक़ आख़िरत से है। अगर दुनिया के फ़ायदे के लिए है तो शरीअत को उससे कोई दुश्मनी नहीं। वह तो बस इतना कहती है कि हलाल व हराम की हदें अल्लाह व रसूल (सल्ल०) ने तय कर दी हैं, वे न टूटें और आप उन हदों में रहते हुए जिस तरह चाहें दुनियावी फ़ायदे और ऐशो-आराम व इज़्ज़त हासिल करें। मिसाल के तौर पर आपने ट्रेन का सफ़र किया। ज़ाहिर है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के दौर में ट्रेन नहीं थी। लिहाज़ा लुग़त के हिसाब से ट्रेन का सफ़र बिदअत हुआ। मगर उसका मक़सद सिर्फ़ दुनियावी होता है और क़ुरआन व सुन्नत के किसी लफ़्ज़ से यह मालूम नहीं होता कि ग़ैर-मुस्लिमों की बनाई हुई नई चीज़ों से दुनियावी फ़ायदा न उठाओ, बल्कि इसके बर-अक्स (विपरीत) ग़ैर-मुस्लिमों की बनाई हुई चीज़ों का इस्तेमाल ख़ुद रसूल (सल्ल०) के अमल से साबित है। लिहाज़ा शरीअत के नज़दीक यह बिदअत न होगी। इसी तरह दूसरे मामले हैं जो किसी शरई हुक्म के ख़िलाफ़ न हों और नबी (सल्ल०) के मुबारक दौर में न किए जाने की वजह से लुग़त के मुताबिक़ 'बिदअत' हों, उन पर शरीअत को कुछ एतिराज़ नहीं। हाँ, अगर उनसे कोई शरई हुक्म टूटता हो तो बेशक शरीअत उनपर एतिराज़ करती है। मसलन बैंक का कारोबार है। प्यारे नबी (सल्ल०) के दौर में यह कारोबार अपनी मौजूदा शक्ल में नहीं था और आज यह दुनियावी मक़सदों के लिए राइज कर लिया गया है। लेकिन शरीअत ने सूद (ब्याज) को हराम क़रार दिया है

जबकि बैंक का कारोबार सूद पर ही चलता है इसलिए यह शरीअत के ख़िलाफ़ है।

दूसरी सूरत यह है कि शुरू किए गए उस नए काम का मक़सद दुनियावी न हो, बल्कि वह काम आख़िरत के फ़ायदे के लिए किया जाए। उसके बारे में यह देखा जाएगा कि उसका हुक्म क़ुरआन व सुन्नत में मौजूद है या नहीं और सहाबा (रज़ि॰) व इस्लामी फ़िक़्ह के इमामों ने उसे क़ुरआन व सुन्नत के किसी लफ़्ज़ या जुमले से लिया है या नहीं? अगर दोनों सूरतों में से कोई सूरत मौजूद नहीं है तो देखा जाएगा कि जिस मक़सद और सबब के लिए यह काम किया जा रहा है, वह मक़सद और सबब अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के दौर में भी मौजूद था या नहीं? और अगर मौजूद था तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) और उनके सहाबा (रज़ि॰) के लिए अमली तौर पर उस काम को कर लेने में कोई रुकावट थी या नहीं? अगर वह मक़सद व सबब उस दौर में भी मौजूद था और उसे हासिल करने के लिए आज जो काम किया जा रहा है, उस ज़माने में भी किया जा सकता था, तो यक़ीनन कहा जाएगा कि यह काम शरीअत के मुताबिक़ बिदअत है। मिसाल के तौर पर कुछ बिदअत-पसन्दों की इस बात को लीजिए कि वे किसी एक या कुछ नमाज़ों के बाद सूरा फ़ातिहा और सूरा इख़्लास वग़ैरह पढ़ने को न सिर्फ़ अच्छा समझते हैं, बल्कि इसकी पाबन्दी करते हैं। और जो ऐसा न करे उसे 'वहाबी' वग़ैरह कहते हैं। अब देखना यह है कि उनका यह अमल दुनियावी फ़ायदे के लिए था या दीनी फ़ायदे के लिए। ज़ाहिर है कि दुनियावी फ़ायदा तो इसमें ज़रा-सा भी नहीं। ये लोग सवाब और बरकत ही के मकसद से यह काम करते हैं, जिसका ताल्लुक़ आख़िरत में मिलनेवाले फ़ायदे से है और अल्लाह की नज़दीकी हासिल करने के सिवा इसका कोई और फ़ायदा सोचा भी नहीं जा सकता। तो यह मक़सद तो प्यारे नबी (सल्ल॰) के मुबारक दौर में न सिर्फ़ मौजूद था, बल्कि इसी मक़सद के लिए और इसी वजह से अल्लाह ने आप (सल्ल॰) को नबी बनाकर भेजा था और यही दीन का मक़सद है। इसके अलावा कोई रुकावट भी ऐसी मौजूद न थी कि इस मक़सद को हासिल करने

के लिए प्यारे नबी (सल्ल॰) और आपके सहाबा (रज़ि॰) नमाज़ के बाद सूरा फ़ातिहा और सूरा इख़्लास की पाबन्दी न कर सकते। मगर हम देखते हैं कि किसी क़ौल व अमल से न तो प्यारे नबी (सल्ल॰) ने इसकी तालीम दी, न सहाबा (रज़ि॰) ने इसपर अमल किया। लिहाज़ा यह बिदअत ही है और इसको बहुत बड़ी नेकी का और क़ाबिले क़द्र काम समझनेवाला यह दावा कर रहा है कि "अल्लाह के क़रीब होने और सवाब हासिल करने के जिन ज़रीओं को मैं जानता हूँ उनका इल्म अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को भी न था" (अल्लाह हमें माफ़ करे!)। ज़रा सोचिए, अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) तो जुमे के दिन को तय करके रोज़ा रखने को भी मना करते हैं कि इस तरह लोग जुमे के दिन के लिए ऐसे फ़ज़ाइल सोच लेंगे जो उसमें नहीं है। लेकिन इस्लाम की पैरवी का दावा करनेवालों का हाल यह है कि वे नई-नई इबादतें गढ़कर उनपर ख़ुद जमते और लोगों को जमाते हैं। हालाँकि सूरा फ़ातिहा और सूरा इख़्लास वग़ैरा की जो तारीफ़ें अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के हवाले से हदीस की किताबों में लिखी हैं, उनका तक़ाज़ा सिर्फ़ यह है कि मुसलमान समय-समय पर उन्हें पढ़ता रहे, और दूसरों को बताए कि इन सूरतों को पढ़ा करें। मगर किसी वक़्त के साथ उन्हें ख़ास और पाबन्द कर देना बिदअत में गिना जाएगा। क्योंकि जिन मौक़ों पर उनकी पाबन्दी हदीस की किताबों में नहीं लिखी, उन मौक़ों पर पाबन्दी करना मानो आज़ादी और छूट का वह हक़ छीन लेना है जो अल्लाह व उसके रसूल (सल्ल॰) ने ईमानवालों को दिया है। इस हक़ को छीन लेने का किसी को क्या हक़ है?

दूसरी मिसाल मौलूद या मीलाद की है जो प्यारे नबी (सल्ल॰) के यौमे-पैदाइश (जन्म-दिवस) पर हर साल बहुत एहतिमाम और पाबन्दी के साथ किया जाता है। यह मिसाल इस लिहाज़ से बड़ी नाज़ुक है कि जब इसके बिदअत होने की बात की जाए तो बिदअत-पसन्द लोग अवाम को जज़्बाती बातों में फँसा लेते हैं और कहते हैं कि "लो साहब ये तो प्यारे नबी (सल्ल॰) के ज़िक्र को भी मना करने लगे।" हालाँकि आप (सल्ल॰) के ज़िक्र से तो काफ़िर (अधर्मी) ही मना कर सकता है। अल्लाह ने रसूल (सल्ल॰) का ज़िक्र अपनी जगह बिल्कुल

दुरुस्त है, इससे किसी को इनकार नहीं। लेकिन यह यौमे-पैदाइश पाबन्दी से मनाने का तरीक़ा और बुराइयों व बेहूदगियों से भरी नुमाइशी महफ़िलें सजाने का रिवाज किसी तरह शरीअत की कसौटी पर पूरा नहीं उतरता। बुज़ुर्गों की पैदाइश का दिन मनाना अगर बरकत और सवाब का काम होता तो ज़रूर प्यारे नबी (सल्ल॰) पिछले नबियों का यौमे-पैदाइश मनाया करते, ख़ास तौर से हज़रत इबराहीम (अलै॰) का तो ज़रूर मनाते।

> इब्ने-अब्बास (रज़ि॰) से रिवायत है– "अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) मदीना में तशरीफ़ लाए तो देखा कि यहूदी यौमे-आशूरा (मुहर्रम की 10वीं तारीख़) को रोज़ा रखते हैं। लिहाज़ा आप (सल्ल॰) ने उनसे पूछा कि यह क्या है? उन लोगों ने बताया कि यह एक बड़ा दिन है। इसमें अल्लाह ने मूसा (अलै॰) को और उनकी क़ौम को नजात दी थी और फ़िरऔन और उसकी क़ौम को डुबो दिया था। इसपर मूसा (अलै॰) ने शुक्र के तौर पर रोज़ा रखा था, तो हम भी रोज़ा रखते हैं।" इस पर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने कहा, "हम मूसा (अलै॰) के मामले में तुमसे ज़्यादा हक़दार हैं।" और आप (सल्ल॰) ने आशूरा का रोज़ा रखा और लोगों को रखने का हुक्म दिया। (हदीस : सहीह मुस्लिम, किताबुस्सियाम)
>
> इसके साथ दूसरी हदीस देखिए :–
>
> अबू-मूसा अशअरी (रज़ि॰) से रिवायत है कि यहूदियों के नज़दीक यौमे-आशूरा एक बड़ा और अहम दिन था और वे उस दिन ईद मनाया करते थे, तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने (मुसलमानों से) कहा कि तुम रोज़ा रखो।

इन हदीसों को बयान करने का मतलब यह है कि देखिए शुक्र के तौर पर रोज़ा रखना एक दीनी काम था। लिहाज़ा प्यारे नबी (सल्ल॰) ने उसे क़बूल कर लिया। लेकिन शुक्र के तौर पर साल-के-साल ईद मनाना क़बूल नहीं किया, क्योंकि आप (सल्ल॰) जानते थे कि इस तरीक़े में कोई भलाई नहीं। हालाँकि हज़रत मूसा (अलै॰) और उनकी क़ौम का

फ़िरऔन के ज़ुल्मों से छुटकारा पाना और फ़िरऔन का अपने लश्कर के साथ डूब जाना यक़ीनन ख़ुशी मनाने के लिए बहुत काफ़ी वजह है। कम-से-कम पैदाइश से तो इसका मर्तबा ज़्यादा है। इसके विपरीत हज़रत मूसा (अलै॰) का फ़िरऔन जैसे ज़ालिम और ताक़तवर पर फ़तह पाना और फ़िरऔन का डूब जाना खुले-तौर पर ख़ास और अहम वाक़िआ है, जिसपर ख़ुशी मनाई जानी अक़्ल के मुताबिक़ ग़लत नहीं है। मगर जिस चीज़ के बारे में अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को मालूम हो कि वह अल्लाह की बारगाह में क़ुरबत (निकटता) की वजह नहीं बन सकती और आम लोगों के लिए उसमें फ़ितने के जरासीम (कीटाणु) छिपे हैं, उसे आप (सल्ल॰) कैसे अपना सकते थे। आप (सल्ल॰) जानते हैं कि अगर मैंने अपना लिया तो यह उम्मत के लिए सुन्नत बन जाएगा और दीन के एतिबार से बेनतीजा, बल्कि फ़ितना और बिगाड़ पैदा करनेवाली बातों को सुन्नत बनाना एक सच्चे नबी के लिए मुमकिन नहीं है।

कहा जा सकता है कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) तो चूँकि ख़ुद हर नबी से बुलन्द-मर्तबा थे, इसलिए आपने किसी नबी का यौमे-पैदाइश नहीं मनाया। चलिए मान लिया, क्या सहाबा (रज़ि॰) भी पिछले नबियों से अफ़ज़ल (श्रेष्ठ) थे? प्यारे नबी (सल्ल॰) के नज़दीक अगर यौमे-पैदाइश मनाना बरकत व नेकी का ज़रीआ होता तो क्या आप (सल्ल॰) सहाबा (रज़ि॰) को इसका हुक्म नहीं दे सकते थे? फिर प्यारे नबी (सल्ल॰) के बाद ख़ुद सहाबा (रज़ि॰) को भी इतनी समझ न हुई कि प्यारे नबी (सल्ल॰) का यौमे-पैदाइश मना लिया करें।

एक बहाना यह निकाला जाता है कि हम तो मीलाद भलाई को आम करने के लिए करते हैं, ताकि लोग दीन की तरफ़ झुकें। इस ख़याल व नीयत का सुबूत अगर अमल से मिलता तो ख़ैर बात वज़नी थी। मगर हाल तो यह है कि मीलाद की महफ़िलों में क़ुरआन की आयत— "यक़ीनन फ़ुज़ूलख़र्ची करनेवाले शैतान के भाई हैं" (क़ुरआन, 17:27) की भी दिल खोलकर नाफ़रमानी की जाती है। किताबें भी ग़ैर-मुस्तनद (अप्रमाणित) पढ़ी जाती हैं। क़ियाम भी किया जाता है, जो

शरीअत के ख़िलाफ़ अक़ीदा[1] रखने का नतीजा है। और दिन-तारीख़ की ऐसी पाबन्दी की जाती है कि रोज़ा-नमाज़ छूट जाए, मगर यह न छूटे। हालाँकि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) अगर इस ख़ास महीने में पैदा हुए तो आपका इन्तिक़ाल भी इसी महीने में हुआ है। इस लिहाज़ से यह महीना ख़ुशी के साथ-साथ हमारे लिए यह सबक़ भी अपने अन्दर रखता है कि अल्लाह के सिवा हर चीज़ ख़त्म और फ़ना हो जानेवाली है।

बहरहाल साबित हो गया कि यौमे-पैदाइश मनाने का मक़सद जो कुछ समझा जाता है वह प्यारे नबी (सल्ल॰) और सहाबा (रज़ि॰) और ताबिईन सबके दौर में मौजूद रहा है और कोई रुकावट भी ऐसी नहीं रही कि ये हज़रात इस काम को न कर सकते। जब उन्होंने नहीं किया तो साबित हुआ कि यह अमल बिदअत है।

हाँ, किसी बड़े शायर (कवि) या अदीब (लेखक) या लीडर का यौमे-पैदाइश मनाना चूँकि ख़ालिस दुनियावी मामला है और अल्लाह से क़रीब होने और सवाब व बरकत हासिल करने से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं, इसलिए शरीअत के अल्फ़ाज़ में इसे बिदअत नहीं कहेंगे। अलबत्ता जो फ़ुज़ूलख़र्ची, वक़्त की बरबादी और मना किए गए काम इसमें किए जाएँ उनसे शरीअत को एतिराज़ होगा।

दूसरी सूरत लीजिए कि सबब तो मौजूद था मगर अमल में रुकावट थी। इसकी मिसाल क़ुरआन और दीनी किताबों को छापना है। ज़ाहिर है कि क़ुरआन को छापने और लोगों तक पहुँचाने का मक़सद

---

[1] आम ख़याल यह पाया जाता है कि मीलाद के बाद सलाम पढ़ते वक़्त नबी (सल्ल॰) ख़ुद वहाँ हाज़िर हो जाते हैं और उस सलाम को सुनते हैं। इसलिए सलाम पढ़ते वक़्त आप (सल्ल॰) के एहतिराम में महफ़िल के सारे लोग खड़े हो जाते हैं। हालाँकि ऐसा समझना न सिर्फ़ बेवक़ूफ़ी व नादानी है, बल्कि यह एक मुशरिकाना अक़ीदा है, क्योंकि हर वक़्त और हर जगह हाज़िर व नाज़िर होने और सब कुछ देखने और सब कुछ सुनने की सिफ़त (गुण) अल्लाह की ज़ाती सिफ़त है और किसी मख़लूक़ को यह कमाल हासिल नहीं, चाहे वे नबी ही क्यों न हों।

(अनुवादक)

प्यारे नबी (सल्ल॰) के मुबारक दौर में भी था और आज भी मौजूद है। इसी तरह दीनी उलूम को फैलाने का मक़सद जब भी था और अब भी है। लेकिन उस ज़माने में प्रेस (Press) ईजाद नहीं हुआ था इसलिए छपाई नहीं हो सकी। इसका मतलब यह हुआ कि अगर हम क़ुरआन को सिर्फ़ तिजारती मक़सद से नहीं, बल्कि बरकत व सवाब और ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचाने की ख़ातिर छापें, तब भी दीनी काम होने के बावजूद यह शरीअत के मुताबिक़ बिदअत न कहलाएगा, क्योंकि अगरचे यह काम अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के मुबारक दौर में न हुआ, जबकि इस काम का मक़सद उस वक़्त भी मौजूद था लेकिन, प्रेस (Press) न होने की वजह से इसपर अमल न हो सकता था। याद रहे, छपाई का काम अपने आपमें ख़ुद किसी शरई हुक्म के ख़िलाफ़ नहीं है। यही मामला सवाब की ख़ातिर किताबें और पोस्टर वग़ैरा छापने का है।

तीसरी सूरत यह है कि एक नया काम हमने किस मक़सद के लिए शुरू किया है, वह अगरचे आख़िरत से ताल्लुक़ रखता है, लेकिन वह जिस सबब के लिए किया जा रहा है वह सबब ही अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के ज़माने में मौजूद न था। मिसाल के तौर पर प्यारे नबी (सल्ल॰) के बाद सहाबा (रज़ि॰) का क़ुरआन जमा करना और सहाबा (रज़ि॰) व ताबिईन का हदीस की किताबें तरतीब देना (संकलित करना)। ज़ाहिर है कि इन कामों का मक़सद दीन की हिफ़ाज़त है। यह मक़सद अपनी जगह बेशक सही और दीन के मुताबिक़ है। लेकिन क़ुरआन व हदीस को जमा करने और तरतीब देने के कारण प्यारे नबी (सल्ल॰) की ज़िन्दगी में मौजूद नहीं थे। आप (सल्ल॰) के बाद हालात ऐसे पैदा हुए कि क़ुरआनी आयतों व हदीसों को लिखित रूप में इकट्ठा करना ज़रूरी महसूस हुआ। लिहाज़ा यह वह शरई बिदअत नहीं है कि जिसे हदीस में 'ज़लालत' (गुमराही) कहा गया है।

एक सूरत यह भी है कि जो सबब प्यारे नबी (सल्ल॰) के ज़माने में नहीं था बल्कि बाद में पैदा हुआ, लेकिन वह सबब अपने-आप में ख़ुद मुसलमानों ही की किसी ग़लती का नतीजा हो तो उसका कोई एतिबार नहीं है। मसलन ईदुल-फ़ित्र और ईदुल-अज़हा के ख़ुत्बों के

बारे में शरीअत का हुक्म है कि वे नमाज़ के बाद दिए जाएँ। अब बाद में अगर मुसलमानों का यह हाल हो गया कि नमाज़ ख़त्म होते ही भागने लगते हैं और ख़ुत्बा नहीं सुनते, तो यह सबब इस बात के लिए काफ़ी नहीं समझा जाएगा कि ख़ुत्बा नमाज़ से पहले दे दिया जाए। क्योंकि यह सबब क़ुदरती नहीं, बल्कि मुसलमानों की लापरवाही और बद-अमली की वजह से पैदा हुआ है।

बिदअत को पहचानने की यह कसौटी अगरचे इस वक़्त हमारे अल्फ़ाज़ की शक्ल में आपके सामने आई है, लेकिन हक़ीक़त में यह हमारी ख़ुद की बनाई हुई नहीं, बल्कि क़ुरआन व सुन्नत के दिए हुए दीन ने इसे बनाया है। आख़िर आप भी तो यह जानते और मानते हैं कि अल्लाह के मामले में प्यारे नबी (सल्ल॰) का इल्म हम लोगों से हज़ारों गुना ज़्यादा और यक़ीनी था। आप (सल्ल॰) आख़िरी नबी थे, जिन्हें दुनिया के सामने अल्लाह की रिज़ा और ख़ुशनूदी हासिल करने के तमाम मुमकिन ज़रीए खोलकर रख देने थे और वे आप (सल्ल॰) ने रख दिए। हमारी अक़्लों की इतनी पहुँच कहाँ कि अल्लाह की रिज़ा या नाराज़ी के बारे में अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की तालीम से हटकर कोई यक़ीनी फ़ैसला कर सकें। ठंडे दिल से ग़ौर कीजिए! हम तो इतना भी नहीं समझ सकते कि फ़ज्र की नमाज़ सिर्फ़ दो रकअत (फ़र्ज़) और मग़रिब की तीन क्यों है। बाक़ी वक़्तों में चार-चार रकअत (फ़र्ज़) किस लिए हैं। इशा के बाद किस मक़सद से वित्र रखे गए हैं। ज़कात की शरह (मात्रा) ढाई फ़ीसद (2½%) क्यों है, दो या तीन फ़ीसद क्यों नहीं। हमारा काम सिर्फ़ इतना है कि क़ुरआन और अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने जो हुक्म दिया उसे पूरा करें। एक ग़ुलाम पर यह बिल्कुल नहीं जचता कि वह मालिक के हुक्मों में कमी या बढ़ोत्तरी करे। बिदअत से साफ़-साफ़ और बार-बार मना किया गया है, और हम हैं कि उस मना करनेवाले नबी (सल्ल॰) की सच्चाई और रिसालत पर ईमान का दावा रखने के बावुजूद अपनी तरफ़ से नए आमाल निकालते हैं और समझते हैं कि इनसे अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ख़ुश होंगे, अल्लाह की ख़ुशनूदी मिलेगी और बरकत हासिल होगी। जब हम इस बात पर ईमान ले आए

हैं कि हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) अल्लाह के रसूल और ख़ुदा को पहचाननेवाले हैं, तो ख़ुद-ब-ख़ुद यह बात माननी भी ज़रूरी हो जाती है कि अल्लाह की नज़दीकी और सवाब व बरकत हासिल करने के लिए जो आमाल हो सकते थे, वे आप (सल्ल॰) ने अपने क़ौल व अमल से साफ़-साफ़ बता दिए। और जिन आमाल को नहीं अपनाया, हालाँकि उन्हें करने में कोई रुकावट न थी, वे यक़ीनन सवाब व बरकत के लिए फ़ायदेमन्द न होंगे।

ख़याल आता है कि बिद्अत-पसन्द लोग हज़रत उमर फ़ारूक़ (रज़ि॰) के एक जुमले को अपनी दलील में पेश करते हैं। वह जुमला तरावीह की नमाज़ को पाबन्दी के साथ जमाअत से पढ़ने के बारे में है। अल्फ़ाज़ ये हैं; "यह कैसी अच्छी बिद्अत है!" ये अल्फ़ाज़ आप (रज़ि॰) ने उन लोगों के जवाब में कहे थे जिन्होंने कहा था कि यह जो आपने पूरे रमज़ान में पाबन्दी से तरावीह बाजमाअत का सिलसिला मस्जिद में शुरू करा दिया है, यह तो बिद्अत मालूम होता है क्योंकि यह तरीक़ा नबी (सल्ल॰) की ज़िन्दगी में नहीं था।

हज़रत उमर (रज़ि॰) के इस जुमले से यह दलील पकड़ी जाती है कि, 'बिद्अत, की दो क़िस्में हैं। बुरी और अच्छी। हदीसों में जिन बिद्अतों से रोका गया है वे बुरी बिद्अतें हैं जबकि अच्छी बिदअतें शरीअत की नज़र में पसन्दीदा हैं, जैसा कि ख़ुद हज़रत उमर (रज़ि॰) के क़ौल से मालूम हुआ।' बज़ाहिर बात बड़ी वज़नदार मालूम होती है, लेकिन जब गहराई से जाइज़ा लीजिए तो धोखे के सिवा कुछ भी नहीं। हदीस की एक-एक किताब उठाकर देखिए। किसी जगह आपको नहीं मिलेगा कि शरीअत ने बिद्अत की दो क़िस्में की हों। जितनी भी हदीसें बिदअत के बारे में आपने अभी पढ़ी हैं और जितनी इनके अलावा हैं, सबमें सिर्फ़ 'बिद्अत' लफ़्ज़ इस्तेमाल हुआ है और उसके आगे-पीछे कोई लफ़्ज़ नहीं जोड़ा गया है। ऐसे में किसी को इजाज़त नहीं दी जा सकती कि वह अपने मन से बिदअत को अच्छी और बुरी दो क़िस्मों में बाँट दे। बिदअत की तक़सीम बाद के लोगों ने की है और इसलिए की है कि कुछ काम ऐसे होते हैं कि उनमें बिदअत का पहलू तो मामूली-सा होता है और दीनी फ़ायदे का पहलू ज़रा ज़्यादा होता है। ऐसे कामों को

कुछ लोगों ने 'अच्छी बिदअत' का नाम दे दिया। जैसे कुछ बुज़ुर्गों ने अपनी ख़ास तबीअत और मिज़ाज के तहत यह महसूस किया कि मारिफ़त और तसव्वुफ़ के अशआर उनपर बहुत असर करते हैं। लिहाज़ा उन्होंने अच्छी आवाज़वाले लोगों से उन्हें सुनना शुरू कर दिया। हालाँकि वे जानते थे कि यह "समाअ" बिदअत है लेकिन इससे अल्लाह की तरफ़ उनका झुकाव ज़्यादा बढ़ गया और मन को पाक-साफ़ करने के लिए उन्होंने उसे अपने हक़ में ज़्यादा असरदार पाया। इसलिए उसे 'अच्छी बिदअत' क़रार दे दिया। हो सकता है ख़ास उनके हक़ में यह बिदअत मना होने के बावुवूद अल्लाह के अज़ाब का सबब न बने, क्योंकि उन्होंने पूरे ख़ुलूस और साफ़ नीयत से उसे अपनाया था और किसी तरह की ख़ुराफ़ात को उसमें दाख़िल नहीं किया था। न उनका मक़सद उसके ज़रीए से नफ़सानी लज़्ज़त हासिल करना था। फिर यह कि उनकी ज़िन्दगी चूँकि अच्छे कामों और इबादत व परहेज़गारी से भरी थी, इसलिए हो सकता है कि क़ुरआन के मुताबिक़ उनकी नेकियाँ उस बिदअत को अल्लाह के दरबार में नज़र-अन्दाज़ किए जाने के क़ाबिल बना दें। लेकिन हर किसी के लिए यह हरगिज़ जाइज़ नहीं कि उनकी तक़लीद करे और "समाअ" की बिदअत को, जो हर हाल में बिदअत है, अच्छा काम समझे। बहरहाल बिदअते-हसनह् (अच्छी बिदअत) शरई इस्तिलाह (परिभाषा) में कोई चीज़ नहीं है और हज़रत उमर (रज़ि०) ने जो 'बिदअत' का लफ़्ज़ इस्तेमाल किया वह बिल्कुल ऐसा ही है जैसे आप किसी काम को पूरी तरह फ़ायदेमन्द और अच्छा समझकर इख़्तियार कर रहे हों और उसपर कुछ लोग आपसे कहें कि यह काम फ़ायदेमन्द नहीं बल्कि नुक़सानदेह है। तब आप उन लोगों को जवाब दें कि अच्छा नुक़सानदेह ही सही मगर इसका नुक़सान बड़ा फ़ायदेमन्द है। ज़ाहिर है कि मुतज़ाद (विरोधाभासी) लफ़्ज़ोंवाला यह जुमला आपने अपने इस यक़ीन की बुनियाद पर कहा है जो आपको काम के फ़ायदेमन्द और बेहतर होने पर है।

इस दलील को अगर कोई न माने तो दूसरी दलील यह है कि हज़रत उमर (रज़ि०) ने यह लफ़्ज़ "बिदअत" शरई माना में नहीं बल्कि

लुग़वी माना (शाब्दिक अर्थों) में इस्तेमाल किया था, एक ही लफ़्ज़ हम कभी लुग़वी माना में बोलते हैं और कभी इस्तिलाही माना (पारिभाषिक अर्थों) में। मौक़ा-महल (सन्दर्भ) ख़ुद बता देता है कि लफ़्ज़ किस मानी में बोला गया है। हज़रत उमर (रज़ि॰) के बारे में आपको ख़ूब मालूम है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के हद-दरजा फ़रमाँबरदार, आप (सल्ल॰) की सुन्नत को हद से ज़्यादा चाहनेवाले, आप (सल्ल॰) के हर अन्दाज़ के मतवाले, आप (सल्ल॰) के दीन पर जमे रहनेवाले, निहायत अज़ीम सहाबी थे, जिनकी तारीफ़ में न सिर्फ़ यह कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की सच्ची ज़बान ने बहुत कुछ कहा है, बल्कि कई बार वह्य भी उनकी राय के मुताबिक़ नाज़िल हुई है। उनकी ज़बान से अगर कभी कोई ऐसा जुमला निकले जिसके दो मानी हो सकें तो अक़्ल और इनसाफ़ का तक़ाज़ा क्या यह है कि वे मानी मुराद लिए जाएँ जो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के साफ़ अक़वाल (कथनों) के ख़िलाफ़ महसूस होते हों या वे मानी समझे जाएँ जिनसे मुख़ालिफ़त न हो। ज़ाहिर है कि जिसके दिल में ज़रा भी अल्लाह का डर और ईमान होगा वह यही मतलब निकालेगा जो प्यारे नबी (सल्ल॰) के अक़वाल की मुख़ालफ़त न करता हो। चुनाँचे हज़रत उमर (रज़ि॰) के इस जुमले में लफ़्ज़ "बिदअत" अगर शरई मानी में लिया जाए तो यह अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की हदीसों को साफ़-साफ़ झुठलाना होगा क्योंकि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने तो बिदअत को हर हाल में बिल्कुल रद्द किए जाने के काबिल ठहराया है और हज़रत उमर (रज़ि॰) मानो यूँ कह रहे हैं कि नहीं तमाम बिदअतें बुरी और रद्द किए जाने लायक़ नहीं हैं, बल्कि कुछ बिदअतें तारीफ़ के क़ाबिल और पसन्दीदा भी हैं।

क्या हज़रत उमर (रज़ि॰) जैसे बड़े रुतबेवाले सहाबी के बारे में यह गुमान करना इल्म व अक़्लवाले लोग गवारा कर सकते हैं कि वे बिदअत के मनमाने अर्थ बयान करेंगे? ज़ाहिर है कि नहीं कर सकते। तब तो यह क़ायदा ख़ुद-ब-ख़ुद निकल आया कि बिदअत को लुग़वी माना में लो। यानी अपनी पूरी शक्ल और तरीक़े के लिहाज़ से तो बेशक तरावीह की नमाज़ को ज़माअत से और पाबन्दी से पढ़ना और उसके लिए रौशनी वग़ैरा का एहतिमाम करना एक ऐसा काम था जो

नया था लेकिन शरई एतिबार से यह नया न था, बल्कि शरीअत का तक़ाज़ा और मंशा था और शरीअत ही उसके लिए दलील व सुबूत जुटा रही थी।

हदीस की किताबों में यह रिवायत मिलती है कि तरावीह को जमाअत के साथ पढ़ना, अकेले पढ़ने से अफ़ज़ल है। रिवायत भी मिलती है कि प्यारे नबी (सल्ल॰) ने शुरू रमज़ान में दो या तीन रातों को तरावीह जमाअत से पढ़ी थी और रमज़ान के आख़िरी हिस्से में भी कई बार पढ़ी थी। और फ़रमाया था कि "जब आदमी इमाम के साथ नमाज़ अदा करता है और आख़िर तक थमा रहता है तो उसे सारी रात के क़ियाम (नमाज़ में खड़े होने) का सवाब मिलता है।" पूरे महीने जमाअत के साथ तरावीह न पढ़ने की वजह भी ख़ुद नबी (सल्ल॰) ही ने बयान कर दी थी कि "मैं इस ख़याल से नमाज़ के लिए नहीं निकला कि कहीं वह तुमपर फ़र्ज़ न हो जाए।" यानी आप (सल्ल॰) का तरावीह के लिए बाहर न आना और जमाअत के साथ पाबन्दी से न पढ़ना इसलिए नहीं था कि इसमें कोई बुराई थी, बल्कि इसलिए था कि कहीं पाबन्दी की वजह से लोग इसे फ़र्ज़ व वाजिब का दर्जा न दे बैठें।

अब अन्दाज़ा लगाइए कि हज़रत उमर (रज़ि॰) ने अगर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के इन्तिक़ाल के बाद तरावीह बा-जमाअत को महीना भर पढ़ने का तरीक़ा अपना लिया तो शरई तौर से यह बिदअत कैसे हो सकता है? इसमें किसी भी हैसियत से शरई तौर पर नयापन नहीं है। हाँ, लुग़त के एतिबार से यह नया है। यह भी याद रहे कि ख़ुद अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया है— "तुमपर मेरी सुन्नत (तरीक़ा) और मुझसे हिदायत पाए हुए ख़ुलफ़ाए-राशिदीन की सुन्नत (तरीक़ा) पर चलना फ़र्ज़ है।" इसलिए दूसरे ख़लीफ़ा हज़रत उमर (रज़ि॰) का कोई तरीक़ा, कोई इज्तिहाद, कोई अमल शरई मानों में बिदअत हो ही नहीं सकता कि उनके तरीक़े पर चलना तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के हुक्म की पैरवी और उसके दायरे में रहना है। उनकी जो राय दूसरे सहाबा (रज़ि॰) ने मान ली, वह तमाम उम्मत पर लाज़िम हुई और जिससे किसी एक या कुछ सहाबा (रज़ि॰) ने इख़्तिलाफ़ किया, उसमें

अगरचे हमें उनकी राय छोड़कर दूसरे सहाबी की राय मानने का इख़्तियार हो जाता है, लेकिन यह हरगिज़ नहीं कहा जा सकता कि उनकी राय ग़लत या बिदअत की बुनियाद पर थी। अल्लाह उनसे राज़ी हो!

हम यह कहते हैं कि अगर हज़रत उमर (रज़ि॰) का यह जुमला बिदअत-पसन्दों के लिए वाक़ई कोई दलील अपने लिए रखता है तो क्या वे हज़रत उमर (रज़ि॰) की दूसरी बातों और कामों को दलील मानेंगे? अगर मान लें तो हमारा और उनका इख़्तिलाफ़ ही ख़त्म है। क्योंकि हज़रत उमर (रज़ि॰) तो वे हैं जिन्होंने उस पेड़ को कटवा दिया था जिसके नीचे अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने सहाबा (रज़ि॰) से बैअत ली थी, और किसी भी चोर दरवाज़े से जीते जी बिदअत को दाख़िल होने की इजाज़त नहीं दी। लेकिन ये लोग हज़रत उमर (रज़ि॰) की दूसरी बातों और कामों को दलील बनाने के क़ाबिल नहीं समझते। तब उन्हें क्या हक़ पहुँचता है कि एक अनायास और जल्दी में निकले हुए जुमले को दलील बनाएँ?

फिर हम कहते हैं कि हज़रत उमर (रज़ि॰) को तो बेशक यह हक़ था कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के किसी आम हुक्म में किसी ख़ास दलील से कोई अलग बात निकाल लें। दीन के बारे में उनकी सूझ-बूझ और सही राय की पुख़्तगी पर सिर्फ़ उनका किरदार ही नहीं, बल्कि सबसे मज़बूत गवाही ख़ुद अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की है। इसके अलावा उनकी "बिदअत" को तमाम सहाबा (रज़ि॰) का ख़ुशी से क़बूल कर लेना इस बात की पक्की दलील है कि यह बिदअत 'शरई बिदअत' थी ही नहीं। आख़िर सहाबा (रज़ि॰) के किरदार और उनके ईमान की बुलन्दी से कौन वाक़िफ़ नहीं। वे दीन के मामले में क्या हज़रत उमर (रज़ि॰) से दबकर हक़ के ख़िलाफ़ कोई फ़ैसला क़बूल कर सकते थे? ऐसा कोई नासमझ ही सोच सकता है। हमारा तो ईमान है कि सहाबा (रज़ि॰) के लिए यह तो आसान था कि अपनी जान दे दें मगर शरीअत के ख़िलाफ़ फ़ैसले को ख़ुशी से क़बूल कर लेना मुमकिन न था।

बताइए, सहाबा (रज़ि॰) के बाद ऐसा कौन है जिसे यह इख़्तियार दिया जा सकता हो कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के किसी आम हुक्म को बिना शरई दलील के अपनी राय से ख़ास करे या नई बात निकाले। कौन है जिसकी गहरी सूझ-बूझ, दीन की बारीकियों की जानकारी, दीनदारी, तक़्वा (अल्लाह का डर) और नबी (सल्ल॰) से मुहब्बत पर ख़ुद नबी (सल्ल॰) की तस्दीक़ की मुहर लगी हो? कोई नहीं, हरगिज़ कोई नहीं। इसपर कोई दलील नहीं। फिर कैसे बिना सनद (प्रमाण) के नए तरीक़ों को दीन का हिस्सा समझा जाए क्योंकि कोई नेक व इबादत-गुज़ार उम्मती अल्लाह के आख़िरी रसूल (सल्ल॰) से ज़्यादा दीन का इल्म और अल्लाह की ख़ुशी व नाराज़ी के बारे में नहीं जान सकता।

इज्तिहाद व बिदअत

दीन में नई बातें निकालने से मना करने की दलीलों का कोई तोड़ न पाकर कुछ लोग अपनी कुछ बिदअतों के लिए रिवायतें ढूँढ़कर लाते हैं और कहते हैं कि इन रिवायतों से हमने फ़ुलाँ काम निकाला और इसकी हैसियत वैसी ही है जैसी फ़िक़्ह में छोटे-छोटे मामलों की। यानी इज्तिहादी मसाइल जिस तरह बिदअत नहीं बल्कि दीन का हिस्सा हैं, उसी तरह हमारा यह मसला निकालना भी बिदअत नहीं दीन का हिस्सा है।

बात कुछ हद तक जी को लगती है। लेकिन हम उनकी ख़िदमत में अर्ज़ करेंगे कि क्या उनके नज़दीक इज्तिहाद का मतलब यही है कि हर ख़ास व आम (व्यक्ति) हदीसों और क़ुरआन की आयतों से अपने इल्म और अक़्ल के मुताबिक़ मानी और मतलब निकाल लिया करे। चाहे उसके निकाले हुए मतलब दीन के इल्म में माहिर आलिमों और फ़क़ीहों के फ़ैसलों के ख़िलाफ़ पड़ते हों या दीन के मुत्तफ़िक़ा (सर्वसम्मत) अहकाम से टकराते हों। अगर इसी का नाम उन्होंने इज्तिहाद रखा है तो उन्हें अपनी अक़्ल का इलाज कराना चाहिए। इज्तिहाद कोई मज़ाक़ नहीं है। सारी दुनिया मानती है कि किसी भी

इल्म व फ़न के उसूलों से छोटे-छोटे अमली मसाइल निकालना और एक छोटे मसले को दूसरे छोटे मसले पर क़ियास करना, उन ही लोगों का काम हो सकता है जो इस इल्म व हुनर में पूरी महारत रखते हों, और यही अक़्ल व इनसाफ़ का न सिर्फ़ तक़ाज़ा है बल्कि इसके मानने पर इनसान मजबूर भी है। क्योंकि इसके बिना हर इल्म व हुनर बिगड़ कर रह जाएगा। फिर दीन व शरीअत जैसे शानदार इल्म के बारे में कौन समझदार शख़्स यह कह सकता है कि इसमें इज्तिहाद व क़ियास के लिए शर्तें और पाबन्दियाँ नहीं हैं। शर्तें हैं और ज़रूर हैं। चुनाँचे आलिमों ने जाँच-तौलकर सिर्फ़ उन ही लोगों को मुज्तहिद (इज्तिहाद करने के क़ाबिल) माना है जो इज्तिहाद से मुताल्लिक़ शर्तों पर पूरे उतरते थे। और यही मुज्तहिद थे जिन्होंने अपनी ज़िन्दगियाँ खपाकर क़ुरआन व सुन्नत के उसूलों से छोटे-छोटे मसाइल निकालकर इस्लाम का अज़ीमुश्शान क़ानून व दस्तूर जमा किया। उसके बाद अगरचे इज्तिहाद का दरवाज़ा बन्द नहीं हुआ– और होना भी नहीं चाहिए जबकि ज़िन्दगी के बदलते हुए हालात में इसकी ज़रूरत हर हाल में बाक़ी रहती है– लेकिन उन ही लोगों को इसका हक़ दिया जा सकता है जो अपने कारनामों और ज़बान व अमल से यह साबित कर दें कि वे इज्तिहाद के लिए लगाई गई शर्तों पर पूरे उतरते हैं।

जब यह तय हो गया तो समझना चाहिए कि किसी शख़्स का ख़ाह-मख़ाह यह दावा करना भरोसे के क़ाबिल नहीं है कि उसने इज्तिहाद के ज़रीए से कोई नया नज़रिया, उसूल या अमल क़ुरआन व सुन्नत से निकाला है, जब तक वह अपने अमल से यह साबित न कर दे कि उसमें इज्तिहाद की शर्तों पर पूरा उतरने के गुण पाए जाते हैं। वरना जिस चीज़ को वह इज्तिहाद कह रहा है उसे तुकबन्दी, हवाई क़िला और अपने मन की ख़ाहिशों के पीछे भागने का फल कहा जाएगा।

चुनाँचे हम देखते हैं कि क़ब्रपरस्ती, राग-रंग, उर्स व क़व्वाली, फ़ातिहा पढ़ना और अल्लाह के सिवा दूसरों के लिए नज़्र मानना और इसी तरह के मौजूदा मसलों पर इज्तिहाद व क़ियास का दावा करनेवाले, इज्तिहाद की शर्तों पर तो क्या उन शर्तों पर भी पूरे नहीं उतरते

जो एक अच्छे मुसलमान के लिए क़ुरआन व सुन्नत ने बयान की हैं। या अगर उनमें कुछ अमली तौर पर अच्छे मुसलमान हैं भी तो दीन व शरीअत के इल्म में माहिर होने का कोई सुबूत उन्होंने दुनिया के आगे पेश नहीं किया। ऐसी सूरत में ऐसे इज्तिहाद कैसे क़बूल कर लिए जाएँ जो न तो क़ुरआन व सुन्नत की कसौटी पर पूरे उतरते हैं, न पिछले ज़माने के मुज्तहिदों ने उनको सही कहा है, न सही अक़्ल उन्हें मानती है।

यह तो एक ख़राबी हुई। दूसरी ख़राबी यह है कि ये लोग या तो बिल्कुल बोगस रिवायतें लाते हैं जो हदीस की मोतबर (विश्वसनीय) किताबों में नहीं हैं, या मोतबर किताब में हैं भी तो हदीस के माहिरों ने उनकी कमज़ोरी और झोल को स्पष्ट कर दिया है। या फिर ये लोग सही रिवायत से ऐसे मतलब व मानी पैदा करते हैं कि जो बिल्कुल मनगढ़ंत होते हैं और दूसरी सही रिवायतें उसके ख़िलाफ़ होती हैं।

कुछ मिसालें

एक किताब में हमने देखा कि क़ब्रपरस्ती को जाइज़ ठहराने के सिलसिले में रिवायत बयान की गई कि—

> कुछ उलमा ने कहा है कि जो कोई अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के मज़ार पर यह आयत पढ़े— 'यक़ीनन अल्लाह और उसके फ़रिश्ते नबी पर दुरूद भेजते हैं।' (क़ुरआन, 33:56) और फिर 70 बार सल्लल्लाहु अलै-क या मुहम्मद (ऐ मुहम्मद! आप पर अल्लाह की रहमत हो) कहे तो एक फ़रिश्ता पुकार कर उससे कहता है कि ऐ शख़्स तुझपर ख़ुदा का दुरूद हो। उसके बाद उस शख़्स की जो मुराद होगी, पूरी होगी।

अव्वल तो यह रिवायत भरोसे के क़ाबिल ही नहीं है, सनद के लिहाज़ से भी और अक़्ल व क़ियास के लिहाज़ से भी। सनद का तो यह हाल है कि इसके रावी एक शख़्स इब्ने-अबी-फ़दीक हैं जो ताबिई तक नहीं हैं और उन्होंने जिससे यह रिवायत ली है उस शख़्स के

हालात का किसी को ठीक से पता नहीं कि वह भरोसे के लायक़ है भी या नहीं। अक़्ली तौर से यह रिवायत इसलिए क़बूल किए जाने के लायक़ नहीं कि अव्वल तो ख़ैरुल-क़ुरून[1] के उलमा के हवाले से इस तरह की कोई बात किताबों में नहीं लिखी है। दूसरे, यह रिवायत उस सहीह हदीस के बिल्कुल ख़िलाफ़ है जिसमें प्यारे नबी (सल्ल॰) ने फ़रमाया है कि "जो शख़्स मुझपर एक बार दुरूद भेजता है, उसपर अल्लाह दस बार दुरूद भेजता है।" इस हदीस का तक़ाज़ा यह है कि 70 बार दुरूद भेजने वाले के लिए अल्लाह की तरफ़ से 700 दुरूद हों। लेकिन इब्ने-अबी-फ़दीक की रिवायत बताती है कि 70 बार दुरूद के बदले अल्लाह से सिर्फ़ एक दुरूद मिला।

एक जगह यह रिवायत देखी कि—

> अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "जब कोई मामला किसी तरह तुम्हारी समझ में न आए तो क़ब्रवालों से मदद हासिल करो।"

यह सौ फ़ीसद झूठी रिवायत है जिसे तमाम उलमा ने झूठी क़रार दिया है।

एक यह रिवायत देखी कि—

> अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "जो शख़्स मेरी क़ब्र की ज़ियारत करेगा मैं क़ियामत के दिन उसकी शफ़ाअत (सिफ़ारिश) करूँगा और उसकी तरफ़ से गवाही दूँगा।"

यह रिवायत इब्ने-अबिद्दुनिया की 'किताबुल-क़ुबूर' में मिलती है जिसे इब्ने-अबी-फ़दीक के हवाले से लिखा गया है। हम अभी कह चुके हैं कि यह शख़्स ताबिई तक नहीं है और उसने यह हदीस हज़रत अनस (रज़ि॰) के हवाले से बयान की है। हालाँकि जब तक यह पता न चले कि हज़रत अनस (रज़ि॰) से यह रिवायत किसके (या किस-किसके) ज़रीए से इब्ने-अबी-फ़दीक तक पहुँची, हरगिज़ भरोसे के क़ाबिल नहीं हो सकती। हदीस की किसी मुस्तनद किताब में इस रिवायत को नहीं

---

[1] वह ज़माना जो सहाबा (रज़ि॰) या ताबिईन के ज़माने से ज़्यादा-से-ज़्यादा क़रीब हो ख़ैरुल-क़ुरून (सबसे बेहतर दौर) कहलाता है।

लिया गया और लोग हैं कि इससे क़ब्रपरस्ती की तरकीब निकाल रहे हैं।

एक यह रिवायत सुनी कि—

अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "जिसने मेरी और मेरे बाप इबराहीम ख़लीलुल्लाह (अलै॰) की (क़ब्र की) ज़ियारत एक ही साल के अन्दर-अन्दर की, मैं उसके लिए जन्नत का ज़िम्मेदार हूँ।"

यह भी बिल्कुल बेबुनियाद किसी की गढ़ी हुई रिवायत है।

ऊपर बयान की गई झूठी और ना-क़ाबिले-एतिमाद रिवायतों के बाद एक-दो मोतबर (विश्वसनीय) रिवायतों से क़ियास व इज्तिहाद भी देखिए—

उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के भूखे होने की ख़बर पाकर दो रोटियाँ दुपट्टे के पल्लू में बाधीं.... यह क़िस्सा लम्बा है। ख़त्म इस तरह होता है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने उन रोटियों को मलीदे की तरह तुड़वाया और बर्तन में जो कुछ घी लगा हुआ था, वह उसमें टपका दिया। फिर आप (सल्ल॰) ने दुआ की तरह के कुछ अल्फ़ाज़ उसपर पढ़े और दस-दस आदमियों को बुलाकर खिलाना शुरू किया। अस्सी आदमियों ने पेट भरकर खाया और उम्मे-सुलैम (रज़ि॰) के घर भर ने खाया और फिर भी बच रहा।

(हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

इस रिवायत से एक सही अक़्ल रखनेवाला और इनसाफ़-पसन्द मुसलमान इसके सिवा और क्या मतलब निकाल सकता है कि यह उन मोजिज़ों में से है जो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के ज़रीए से होते रहे हैं। हम उन्हें मानते हैं और उन्हें सच्चा समझते हैं। इसलिए कि जो नबी (सल्ल॰) कुछ पलों में आसमान की सैर कर आया, उसके लिए ऐसे मोजिज़े अल्लाह ने बहुत-से दिए। मगर बिदअत-पसन्द लोगों को देखिए कि वे इससे खाने पर फ़ातिहा पढ़ने का इज्तिहाद फ़रमाते हैं। कितनी हैरत की बात है!

ग़ौर करने की बात है कि प्यारे नबी (सल्ल॰) ने खानें पर फ़ातिहा नहीं पढ़ी, बल्कि दुआ के अल्फ़ाज़ अदा किए और आप (सल्ल॰) की उम्मीद थी कि अल्लाह दुआ क़बूल कर के खाने में मोजिज़ाना बरकत अता कर देगा। यह उम्मीद पूरी हुई और कितने ही भूखों के पेट भर गए। लेकिन इस रिवायत को बुनियाद बनाकर लोग खाने पर फ़ाहिता पढ़ते हैं न कि खाने में बरकत की कोई दुआ। फिर मक़सद मुर्दों की रूहों को सवाब पहुँचाना होता है न कि खाने में बढ़ोतरी। क़ियास व इज्तिहाद की आख़िर कोई तुक भी हो। सोचने-समझने की बात यह है कि मिस्कीनों व ग़रीबों को अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) भी खाना खिलाते थे, और इतना खिलाते थे कि कोई क्या खिलाएगा। सहाबा (रज़ि॰) भी ग़रीबों की परवरिश करने में कम न थे और सूरा-फ़ातिहा अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) और उनके सहाबा (रज़ि॰) को याद भी थी, और उसके फ़ज़ाइल भी वे हमसे ज़्यादा जानते थे मगर कभी नहीं हुआ कि उन्होंने खानों पर उसे पढ़ा हो और उसका सवाब मुर्दों की रूहों को पहुँचाया हो।

खाने पर फ़ातिहा पढ़ने को दुरुस्त ठहरानेवाली एक और रिवायत सुनिए—

> मिश्कात में ग़ज्वए-तबूक के बारे में रिवायत है कि जब लोग भूखे हो गए तो हज़रत उमर (रज़ि॰) ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से दुआ करानी चाही। तब नबी (सल्ल॰) ने दस्तरख़ान बिछवाया और कहा, "आ जाओ, जिसके पास जो कुछ है, ले आओ।' इसपर कोई मुट्ठी भर ज्वार, कोई मुट्ठी भर खजूर, कोई रोटी का टुकड़ा, यानी जिसके पास खाने की क़िस्म से जो कुछ था, ले आया। सब मिलाकर बहुत थोड़ा-सा हुआ। आप (सल्ल॰) ने उसपर दुआ फ़रमाई और कहा, "भर लो अपने बर्तन!" तमाम लश्कर ने अपने बरतन भर लिए और ख़ूब खाया, फिर भी बच रहा।

इस हदीस की अस्ल इबारत में "दुआ-बिल-ब-रकति" के अल्फ़ाज़ हैं। यानी प्यारे नबी (सल्ल॰) ने फ़ातिहा नहीं बरकत की दुआ पढ़ी। अब अक़्ल व क़ियास की कौन-सी क़िस्म से यह फ़ातिहा के लिए

दलील बन सकती है? अस्ल में यह रिवायत तो दुआ या किसी भी क़ुरआनी सूरत के पढ़ने पर दलील नहीं बन सकती क्योंकि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) का यह अमल उन आम इबादतों और हुक्मों में से नहीं है जो अल्लाह ने तमाम इनसानों पर फ़र्ज़ किए हैं, बल्कि मोजिज़ों की क़िस्म में से एक अमल है। मोजिज़ा नबियों की ख़ास चीज़ है। इसलिए तमाम मुस्तनद और मोतबर किताबें उठाकर देख लीजिए, आपको यह लिखा हुआ नहीं मिलेगा कि किसी भी सहाबी ने प्यारे नबी (सल्ल॰) के इस अमल को दलील बनाकर खानों पर दुआ या फ़ातिहा या क़ुरआन की कोई और सूरत पढ़नी शुरू कर दी हो।

एक और नमूना देखिए—

"हज़रत अनस (रज़ि॰) से रिवायत है कि मेरी माँ ने एक बर्तन में खजूर, खाना, घी और दही सबको मिलाकर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की ख़िदमत में भेजा। आप (सल्ल॰) ने उसपर कुछ पढ़ा, जो कुछ अल्लाह को मंज़ूर था, फिर दस-दस आदमियों को बुलाते गए तीन सौ के क़रीब आदमियों को खिलाया फिर मुझसे कहा, "ऐ अनस! अपना बादिया (प्याला) उठाले।" मैंने उठाया तो हैरान हो गया कि अब भी उसमें उससे ज़्यादा खाना मौजूद था जितना पहले था। (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

इस हदीस से भी आज के दौर की 'फ़ातिहा' के चलन का कोई ताल्लुक़ नहीं। मोजिज़ों के ताल्लुक़ से जो शख़्स प्यारे नबी (सल्ल॰) की भोंडी नक़्ल करता है, उसे इल्मवाला तो क्या होशमन्द कहना भी मुश्किल है।

इसी तरह एक हदीस क़ब्रों पर फूल वग़ैरह चढ़ाने के सिलसिले में दलील के तौर पर लाई जाती है कि एक बार अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) किसी क़ब्र से गुज़र रहे थे तो आप (सल्ल॰) ने किसी पेड़ की टहनी तोड़कर क़ब्र पर फेरी या उसपर गाड़ दी। जब पूछा गया तो फ़रमाया कि इस क़ब्र के मुर्दे पर अज़ाब हो रहा था, यह टहनी मुर्दे के लिए दुआए-मग़फ़िरत करेगी।

मुझे नहीं याद कि यह रिवायत हदीस की किस किताब में है। न लिखनेवाले ने कोई हवाला दिया है। मैं इस रिवायत को ज्यों-का-त्यों सही मानकर अक़्लवालों से पूछता हूँ कि क्या इससे किसी भी तरह नेक बुज़ुर्गों की क़ब्रों पर फूल चढ़ाने को जाइज़ ठहराने का रास्ता निकलता है? यह रिवायत तो बताती है कि नबी (सल्ल०) ने फूल नहीं टहनी छुआई थी। आप टहनी की जगह फूलों की बात करते हैं। अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने मुर्दे को अज़ाब से नजात दिलाने के लिए यह अमल किया था। आप उन बुज़ुर्गों की क़ब्र पर अक़ीदत और नियाज़मन्दी के तौर पर फूल चढ़ा रहे हैं, जिनके बारे में आप अज़ाब का गुमान भी गुनाह समझते हैं। मान लीजिए, आप अपने रिश्तेदारों ही की क़ब्रों पर उनके अज़ाब को हल्का करने के लिए फूल चढ़ाने लगें तो इस का मतलब यह निकलेगा कि आप भी ख़ुद को अल्लाह के रसूल (सल्ल०) की तरह अल्लाह के दरबार में क़बूल किया हुआ समझते हैं। आप भी इस ख़ुश-फ़हमी में मुब्तला हैं कि आप के 'मुबारक' हाथ के डाले हुए फूल अज़ाब हल्का कर देंगे। आपके नज़दीक मानो मुर्दे के अज़ाब को हल्का करने की तासीर अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के हाथ और आप (सल्ल०) की दुआ में नहीं थी बल्कि ख़ुद टहनी में थी और आप टहनी न मिलने की वजह से फूल चढ़ा रहे हैं कि आपके नज़दीक फूलों में भी अज़ाब कम करने की तासीर है। अल्लाह हम सबकी हिफ़ाज़त करे!

खुली हुई बात है कि मज़ारों पर फूल चढ़ाना, मन्नतें मानना, चादरें चढ़ाना, खानों पर फ़ातिहा पढ़ना सब अजमी (ग़ैर-अरब) तहज़ीब के इनामात हैं जिन्हें आपने दीन के साँचे में ढाल लिया है और समझते हैं कि अल्लाह इनपर आख़िरत में आपको इनाम देगा। यह भी क्या ख़ूब ख़ुशफ़हमी है!

इज्तिहाद का ज़िक्र छेड़ा है तो एक और फ़ायदेमन्द बात बता दूँ। बिदअत-पसन्द लोग वैसे तो दुर्रे-मुख़्तार और इसी तरह की फ़िक़्ह की दूसरी किताबों के अहकाम और रिवायतों को ज़्यादा ध्यान देने के क़ाबिल नहीं समझते मगर कोई बात अपने मतलब की मिल जाए तो इन ही किताबों में दलील पकड़ने लगते हैं। मसलन दुर्रे-मुख़्तार वग़ैरा में उन्हें यह रिवायत नज़र आई कि हज़रत अली ने एक शख़्स को देखा

कि ईद की नमाज़ के बाद ईदगाह में नमाज़ पढ़ रहा है। आपने उसे न रोका। इसपर लोगों ने कहा कि आप मना क्यों नहीं करते? हज़रत अली (रज़ि०) ने कहा कि कहीं मैं भी उन लोगों में न गिन लिया जाऊँ जिन्हें अल्लाह तआला ने झिड़का है– "क्या देखते हो उसे जो बन्दे को नमाज़ से रोकता है।" (क़ुरआन, 96:9-10)

बिदअत-पसन्दों के लिए तो यह रिवायत आसमान से नाज़िल होनेवाली वह्य बन गई और हज़रत अली (रज़ि०) का अमल दलील ठहर गया। लेकिन उन्हें 'मजमउल-बहरैन' की वह रिवायत दिखाई जाए जिससे हज़रत अली (रज़ि०) का नुक़्त-ए-नज़र और अक़ीदा ऊपर बयान किए गए हज़रत अली (रज़ि०) के रवैए से बिल्कुल उलट मालूम होता है, तो हरगिज़ न मानेंगे। रिवायत यह है–

> एक शख़्स ने ईद के दिन इरादा किया कि ईद की नमाज़ से पहले कुछ नमाज़ पढ़े। उसे हज़रत अली (रज़ि०) ने रोका। उसने कहा, "या अमीरुल मोमिनीन! मैं जानता हूँ कि अल्लाह नमाज़ पढ़ने पर अज़ाब नहीं देगा।" हज़रत अली (रज़ि०) ने फ़रमाया, "और मैं जानता हूँ कि अल्लाह किसी ऐसे अमल पर सवाब नहीं देता जिसे न तो अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने ख़ुद किया हो और न उसको करने के लिए उभारा ही हो। ऐसे में तेरी नमाज़ एक बे-फ़ायदा काम होगी। और बे-फ़ायदा काम हराम है।"

बिदअत-पसन्द कुछ भी कहें लेकिन हक़ के चाहनेवाले ज़रा ध्यान दें कि आमाल के अज्र व सवाब के हक़दार होने के बारे में हज़रत अली (रज़ि०) जैसे बड़े रुत्बेवाले सहाबी का क्या नज़रिया था जिससे अहले-तरीक़त[1] तमाम क़रीबी रिश्ते जोड़ते हैं और जिसे अल्लाह के रसूल ने "इल्म का दरवाज़ा" कहा है और जिसकी नेकी वह परहेज़गारी ज़माने भर में मशहूर है। हम बिदअत के रद्द और नाक़ाबिले-अज्र होने

---

[1] कुछ सूफ़ियों की बनाई हुई एक इस्तिलाह उनके अपने ख़याल के मुताबिक़ तरीक़त शरीअत से अलग एक रास्ता है, और यह रास्ता भी इनसान को अल्लाह का महबूब बन्दा बना देता है। (अनुवादक)

पर कई पन्नों में जो बात सलीक़े से न कह सके उसे अमीरुल-मोमिनीन हज़रत अली (रज़ि०) ने कुछ लफ़्ज़ों में किस क़द्र सलीक़े, सफ़ाई और पूरी तरह ब्यान कर दिया। उनपर अल्लाह की मेहरबानी हो!

अरबाबम-मिन दूनिल्लाह (अल्लाह के सिवा दूसरों को रब बना लेना)

क़ुरआन में एक-दो जगह नहीं, बहुत-सी आयतों में ख़ुदा के सिवा किसी को रब बना लेने पर चेतावनी और धमकी दी गई है। अन्दाज़ बदल-बदल कर अल्लाह ने शिर्क से मना किया है, जैसे—

> "और मत पुकारो अल्लाह के सिवा किसी को कि न कोई तुझे नफ़ा दे सकता है न नुक़सान। तो अगर तूने ऐसा किया तो यक़ीनन तू ज़ालिमों में से है।" (क़ुरआन, 10:106)

या जैसे—

> "कह दो (ऐ मुहम्मद!) भला पुकारो तो अल्लाह के सिवा उनको जिनके बारे में तुम्हें ख़ुश-फ़हमियाँ हैं। नहीं क़ुदरत है उन्हें आसमानों और ज़मीन में ज़र्रा बराबर।"
>
> (क़ुरआन; 34:22)

अब अगर इस तरह की आयतें सुनाकर बिदअत-पसन्दों से कहा जाता है कि मरे हुए या ज़िन्दा बुज़ुर्गों से दुआ करना ज़ुल्म व शिर्क है, इसको छोड़ दीजिए यह बे-फ़ायदा ही नहीं दोज़ख़ में पहुँचानेवाला अमल है, तो ये लोग कहते हैं कि ये आयतें तो उनके लिए नाज़िल हुई हैं जो बुतों को पूजते थे, काफ़िर थे, मुशरिक थे। अल्लाह की पनाह! हम बुतों को कहाँ पूजते हैं? इसके जवाब में अगर कहा जाए कि आयतों में आख़िर बुतों का ज़िक्र कहाँ है, वहाँ तो "मिनूदूनिल्लाह" (अल्लाह के सिवा) कहा गया है तो क्या "अल्लाह के सिवा" के दायरे में सिर्फ़ बुत आते हैं। मुर्दा या ज़िन्दा बुज़ुर्ग इस दायरे में क्यों नहीं आएँगे? तो वे कहते हैं कि हम पूजते कब हैं। यानी उनके नज़दीक पूजना बस यह है कि उनके आगे सजदा किया जाए या उनकी नमाज़ पढ़ी जाए। हालाँकि मैं आपको अल्लाह के रसूल (सल्ल०) के क़ौल (कथन) के हवाले से ही

बताऊँ कि पूजना सिर्फ़ यही नहीं है, बल्कि पूजना यह भी है कि जिस चीज़ को आपके बुज़ुर्ग हलाल या हराम कह दें, उसे आप क़ुरआन व सुन्नत की तरफ़ से आँखें बन्द करके हलाल या हराम मान लें। देखिए क़ुरआन में आता है—

> "उन्होंने अल्लाह को छोड़कर अपने उलमा और फ़ुक़्हा (धर्मशास्त्रियों) को और मरयम के बेटे ईसा को रब ठहरा लिया है। हालाँकि उन्हें इसके सिवा कोई हुक्म नहीं दिया गया था कि एक ही अल्लाह की इबादत करें जिसके सिवा कोई माबूद नहीं। वह पाक है उनके शिर्क से।"
>
> (क़ुरआन, 9:31)

हज़रत अदी-बिन-हातिम जो एक ईसाई थे और बाद में ईमान लाए, उन्होंने जब यह आयत सुनी तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) से कहा कि अहले-किताब ने अपने उलमा और फ़ुक़हा की इबादत तो कभी नहीं की। नबी (सल्ल॰) ने जवाब दिया कि इबादत तो नहीं की, मगर उन उलमा और फ़ुक़हा ने कुछ हराम चीज़ों को हलाल कर दिया और अहले-किताब ने उनकी बात मान ली। इसी तरह उन्होंने कुछ हलाल चीज़ों को हराम कर दिया और अहले-किताब ने उसे क़बूल कर लिया।

क्या इस रिवायत से यह साफ़ मालूम नहीं होता कि 'अल्लाह के सिवा दूसरों को रब बनाने' का मतलब सिर्फ़ पूजना ही नहीं होता बल्कि हराम व हलाल के मामले में अल्लाह की हिदायत से बेपरवाह होकर किसी की बात को हक़ और मान लेने के क़ाबिल समझना भी उसे रब बनाना ही है। अक़्ल का साफ़ तक़ाज़ा भी यही है कि जब किसी चीज़ को हलाल ठहराने का पूरा इख़्तियार अल्लाह के हाथ में है तो जिसे भी इस इख़्तियार का मालिक समझ लिया जाए, वह उस समझनेवाले के नज़दीक मानो ख़ुदा ही होगा, चाहे वह ज़बान से उसे ख़ुदा न कहता हो। आज आप आमतौर पर देख सकते हैं कि लोग अपने शैख़ों और मुरशिदों की हर बात को बिना कोई सवाल किए मान लेते हैं, चाहे वह बात साफ़-साफ़ क़ुरआन व सुन्नत के ख़िलाफ़ हो, पीर क़व्वाली सुनने, तबला और हारमोनियम बजाने और उर्स करने को अपनी ज़बान व

अमल से नेक और भलाई का काम ठहराएगा और उसके मुरीद उसपर ईमान ले आएँगे और उसको सच समझेंगे। हालाँकि ये चीज़ें क़ुरआन व सुन्नत से हराम साबित होती हैं। इसी तरह वह नज़्र व नियाज़, टोना-टोटका सिखाएगा, ग़लत अक़ीदों का सबक़ देगा। ये मान लेंगे, ज़बान ही से नहीं दिल से भी मान लेंगे। कोई लाख इन्हें समझाए, आयतें व हदीसें सुनाए, इमामों और फ़क़ीहों की कही हुई बातें बताए, मगर ये सबको इस दलील से ठुकरा देंगे कि हमारे इतने बड़े पीर भला कैसे गुनाह का काम कर सकते हैं? यह "अरबाबम-मिन्-दूनिल्लाह" (अल्लाह के सिवा दूसरों को रब बनाना) नहीं तो और क्या है? यह शिर्क नहीं तो और क्या है? यह शिर्क नहीं तो फिर शिर्क किस चिड़िया का नाम है? यह गुमराही नहीं तो गुमराही किसे कहते हैं?

फ़रमाया अल्लाह के रसूल (सल्ल०) ने—

> "यक़ीनन आदमी के दिल के लिए हर तरफ़ रास्ते हैं। जो शख़्स अपने दिल को सब रास्तों पर चलाता है तो अल्लाह को उसकी कुछ परवाह नहीं होती कि जिस रास्ते में चाहे उसे हलाक कर दे। और जो शख़्स अल्लाह पर भरोसा करता है तो उसके सब रास्तों के लिए अल्लाह काफ़ी है।"
>
> (हदीस : मिश्कात)

यानी दुनिया में सोचने, देखने और अमल करने के अनगिनत रास्ते हैं। ख़ाहिशें पूरी करने के बहुत-से ज़रीए हैं। मतलब निकालने और मक़सद हासिल करने के अनगिनत तरीक़े और वसीले हैं। आदमी अगर मन की ख़ाहिश और अपनी अक़्ल की बात मानकर हर तरफ़ दौड़े, हर तरह के वसीले अपनाए, हर तरीक़े को मक़सद पूरा करने के काम में लाए, हलाल व हराम, सही व ग़लत और सवाब व अज़ाब की कुछ परवाह न करे तो अल्लाह भी उससे बेनियाज़ हो जाता है और गुमराही उसे आ घेरती है, फिर वह गुमराही के रास्ते में भटकते हुए जहाँ-तहाँ बरबाद व हलाक हो जाता है। लेकिन अगर वह मुनासिब और जाइज़ हद तक जिद्दो-जुहद करते हुए अल्लाह पर भरोसा रखे, उससे उम्मीद बाँधे और उसकी तरफ़ रुजूअ् हो तो अल्लाह आसानी से उसे कामयाब कर देता है और वह रंग-बिरंगी राहों में ठोकरें खाने से बच जाता है।

अल्लाह को छोड़कर क़ब्रों और पीरों से काम बनाने की उम्मीद रखनेवालों का हाल यह है कि मुरादें हासिल करने के लिए वे जाइज़ व नाजाइज़ की ज़रा भी परवाह नहीं करते और जिस क़ब्र के बारे में शुहरत सुन ली कि वहाँ मुरादें मिलती हैं, बस उसी की तरफ़ दौड़ पड़े। जबकि अल्लाह ईमानवालों का हाल यह बताता है कि—

> "हमारी आयतों पर वे ईमान लाते हैं जिन्हें अगर समझाया जाए और हमारी आयतें याद दिलाई जाएँ तो सजदे में गिर पड़ें और तारीफ़ के क़ाबिल अपने रब को याद करने लगें।" (क़ुरआन, 32:15)

लेकिन बिदअत-पसन्द लोग, चाहे वे किसी मुल्क, किसी शहर, किसी गाँव के हों, चाहे मेरे ही शहर के हों, चाहे परदे के पाबन्द हों या बेहूदगियों को पसन्द करनेवाले, चाहे सूफ़ियत के जामे में हों या दीन का इल्म और समझ रखनेवालों के लिबास में, उनका हाल यह है कि अल्लाह की आयतें सुनकर इज़्ज़तवाले रब अल्लाह के जलाल और उसकी बड़ाई के एहसास से असर लेना तो बहुत दूर, वे बेझिझक अपने पीरों, मुरशिदों, और बुज़ुर्गों की 'आयतें[1]' मुक़ाबले में लाते हैं और ज़बान व अमल दोनों से उनका यह अक़ीदा ज़ाहिर होता है कि अल्लाह की आयतें हमारे पहुँचे हुए बुज़ुर्गों की आयतों से कुछ ज़्यादा ज़रूरी तो नहीं हैं!

क़ुरआन में अल्लाह फ़रमाता है—

> "लोगों के अपने हाथों की कमाई से ख़ुश्की और समुद्र में बिगाड़ पैदा हो गया।" (क़ुरआन, 30:41)

एक दूसरी जगह आया है—

> "और लोगों में ऐसे भी है जो अल्लाह के बारे में झगड़ते हैं, हालाँकि न उनके पास इल्म है, न हिदायत, न रौशन किताब, और जब उनसे कहा जाए कि जो कुछ अल्लाह ने नाज़िल किया है उसे मानो तो कह देते हैं, नहीं हम तो वही मानेंगे जिसपर हमने अपने बाप-दादा को जमे हुए पाया है। क्या

---

[1] उनकी कही हुई बातें।

अगर शैतान उन्हें दोज़ख़ के अज़ाब की तरफ़ बुला रहा हो तब भी?" (क़ुरआन, 31:20-21)

इसी सूरा में आगे फ़रमाया—

"अगर ज़मीन के तमाम पेड़ों को क़लम और समुद्र को स्याही बना लिया जाए और सात समुद्र और भी (स्याही के तौर पर मौजूद) हों तब भी अल्लाह की बातें ख़त्म नहीं हो सकतीं। बेशक अल्लाह बड़ी क़ुव्वतवाला, ज़बरदस्त हिकमतवाला है।" (क़ुरआन, 31:27)

ये क़ुरआनी आयतें बात में ज़ोर पैदा करने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए नक़्ल की गई हैं कि हमारे मुसलमान भाई इनपर ख़ुलूसे-नीयत से ग़ौर करें। जो लोग अपने काम बनाने और मुरादें पाने के लिए (ख़ुदा माफ़ करे!) इज़्ज़तवाले रब अल्लाह को नाकाफ़ी समझकर मुर्दा या ज़िन्दा बुज़ुर्गों को पुकारते हैं, क़ब्रों और आस्तानों से आस लगाते हैं, टोटकों, गंडे-तावीज़ों और नुजूमियों और जादूगरों के चक्कर में फंसते हैं, क्या इन्हें क़ुदरत और क़ुव्वतवाले अल्लाह की बे-इन्तिहा क़ुव्वतों की सही समझ और उसका यक़ीन हो सकता है? जिनको अगर लिखा जाए तो सारी ज़मीन के पेड़ क़लम बनकर सात समुद्रों की स्याही से उन्हें पूरा नहीं लिख सकते। ये लोग तो ये गुमान करते हैं कि अल्लाह ने ये बातें (मेरे मुँह में ख़ाक!) बस यूँ ही लिख दी हैं और बन्दों के लिए उनमें कोई सबक़, कोई नसीहत, कोई तालीम नहीं है।

हद से आगे बढ़ जाने का जुनून

हक़ीक़ी तौहीद की हक़ीक़त और लज़्ज़त से बेख़बर और इस्लाम की रूह से नावाक़िफ़ लोग किसी तरह उन हदों में रहना गवारा नहीं करते जो अल्लाह ने अपने रसूल (सल्ल॰) के बारे में साफ़ तौर पर तय कर दी हैं। वे नेक और परहेज़गार लोगों को इनसानियत के मरतबों और ख़ूबियों से बढ़ाकर उन्हें उन सिफ़तों (गुणों) का मालिक ठहराते हैं जो सिर्फ़ अल्लाह में पाई जाती हैं। और जब नेक लोगों के साथ यह मामला हो तो अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) तो तमाम नबियों के सरदार और इनसानों में सबसे बेहतर हैं। उन्हें तो ये लोग बिल्कुल ही ख़ुदा

बना डालते हैं। बिदअत-पसन्दों की लिखी हुई किताबें पढ़िए, सूफ़ियों की महफ़िलों के अशआर पर ग़ौर कीजिए और उर्स व क़व्वाली की नअ्तें सुनिए, आपको बिल्कुल गढ़े हुए और मुशरिकाना अक़ीदों की भरमार मिलेगी। क्या नसारा (ईसाइयों) ने हज़रत ईसा (अलै॰) को बढ़ाया होगा जो बिदअत-पसन्दों ने अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) को बढ़ाया! और मज़े की बात तो यह है कि यह बढ़ाना और ग़ुलू (अतिशयोक्ति) करना इस मक़सद से नहीं कि नबी (सल्ल॰) की पैरवी और फ़रमाँबरदारी में भी शिद्दत की जाए और इस मामले में भी हद से आगे बढ़ जाया जाए, बल्कि अमल में तो ये लोग ज़्यादातर ढीले-ढाले और सुन्नतों को छोड़नेवाले मिलेंगे। नबी (सल्ल॰) की तारीफ़ में हदें पार करने का अमल तो सिर्फ़ अपने मन की ख़ाहिश पूरी करने के लिए करते हैं। अपनी तक़रीर और बयान में जोश-ख़रोश और मज़ेदारी पैदा करने के लिए करते हैं। मनचाहे कामों को दुरुस्त ठहराने के लिए कहते हैं। उनके नज़दीक अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ग़ैब की बातें जाननेवाले भी थे, सब कुछ करने की क़ुदरत भी रखते थे, हाज़िर व नाज़िर भी थे। बल्कि आज भी यह सब कुछ हैं। उनके तरह-तरह के मुशरिकाना अक़ीदों की तफ़सील में जाने के बजाए आइए इस्लाम की कुछ उसूली तालीमात आपके सामने पेश करूँ—

सबसे पहले कलिमए-शहादत ही को देखिए कि जिसपर ईमान का दारोमदार है—

> अश्हदु अल्लाइला-ह इल्लल्लाहु व-अश्हदु अन-न मुहम्मदन अबदुहू व रसूलुहू।
>
> "मैं गवाही देता हूँ कि अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं और गवाही देता हूँ कि मुहम्मद (सल्ल॰) उसके बन्दे और रसूल हैं।"

इसमें प्यारे नबी हज़रत मुहम्मद (सल्ल॰) की हैसियत "अब्द" (बन्दा होने) को पहले बयान किया गया, रसूल होने को बाद में। यानी हर मुसलमान अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की अज़मत व फ़ज़ीलत जानने में पहले यह हक़ीक़त अच्छी तरह से समझ ले कि मुहम्मद सिर्फ़ एक

'बन्दे' ही हैं, अल्लाह के 'बन्दे'। अल्लाह जैसी कुव्वत व अज़मत में उनका कोई हिस्सा नहीं।

फिर क़ुरआन में, जहाँ तक मुमकिन हो सकता था, कई बार साफ़-साफ़ अल्फ़ाज़ में प्यारे नबी (सल्ल॰) के इनसान होने व अल्लाह का बन्दा होने को बयान कर दिया गया—

> "कह दो (ऐ मुहम्मद!), मैं तो तुम्हारी तरह एक बशर (इनसान) हूँ। मेरी तरफ़ वह्य की गई है कि (तुम्हें बताऊँ) तुम्हारा माबूद एक ही माबूद है।" (क़ुरआन, 18:110)

इसी बात की तंबीह व तस्दीक़ क़ुरआन में दूसरी जगहों पर भी की गई। मसलन सूरा आले-इमरान में फ़रमाया—

> "यह नहीं हो सकता कि एक बशर को अल्लाह किताब और हुक्म (फ़ैसले की कुव्वत) और नुबूवत दे फिर वह बशर लोगों में कहे कि अल्लाह को छोड़कर मेरी इबादत करो!" (क़ुरआन, 3:79)

यानी यहाँ एक उसूल बयान कर दिया गया जिसके बाद किसी भी नबी को इनसान से बढ़कर कुछ और समझे जाने की गुंजाइश ही नहीं। और सूरा इबराहीम में तमाम पिछले नबियों के क़ौल (कथन) को भी इसी हक़ीक़त को साफ़-साफ़ बयान करने के लिए कहा गया—

> "रसूलों ने उनसे कहा कि हम तो सिर्फ़ बशर (इनसान) हैं तुम्हारी तरह, हाँ, अल्लाह अपने जिस बन्दे पर चाहे एहसान फ़रमाता है (यानी अल्लाह ने एहसान करके हमें नबूवत अता की)।" (क़ुरआन, 14:11)

आख़िर इन आयतों से ज़्यादा साफ़-साफ़ और किन अल्फ़ाज़ में अल्लाह बताता कि हर नबी और रसूल सिर्फ़ बशर (इनसान) होता है। इनसान से बढ़कर इसमें कोई कुव्वत नहीं होती और उसके ज़रीए से जो मोजिज़ा ज़ाहिर होता है, वह दरअस्ल अल्लाह ही का दिया हुआ और उसका एहसान होता है, न कि अपने आप में नबी के इख़्तियार व कुव्वत की दलील। कितने साफ़ और शक-शुब्हे से पाक लफ़्ज़ों में अल्लाह नबी (सल्ल॰) से कहलवाता है—

"(ऐ मुहम्मद!) कह दो, मैं अपनी जान के नफ़ा-नुक़सान का मालिक नहीं हूँ, लेकिन जो कुछ अल्लाह चाहे, और अगर मैं ग़ैब का हाल जानता तो बहुत कुछ भलाइयाँ हासिल कर लेता और मुझे कोई बुराई कभी न पहुँचती। मैं तो बस डरानेवाला और ख़ुशख़बरी देनेवाला हूँ ईमानदार लोगों को।"

(क़ुरआन, 7:188)

बिल्कुल यही शुरू के अल्फ़ाज़ सूरा-यूनुस (आयतः47) में आए हैं। फ़र्क़ सिर्फ़ इतना है कि वहाँ पहले 'ज़रर' (नुक़सान) का ज़िक्र है फिर 'नफ़ा' (फ़ायदे) का।

सूरा जिन्न में फ़रमाया गया—

"कह दो (ऐ मुहम्मद!), मैं तो बस अपने रब को पुकारता हूँ और किसी को उसका शरीक नहीं ठहराता। कह दो, मेरे क़ब्ज़े में नहीं तुम्हारा नुक़्सान और तुम्हें राह पर लाना।"

(क़ुरआन, 72:20-21)

ये तो क़ुरआन की कुछ आयतें हुईं। ज़रा ख़ुद अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की हदीसों को भी देखिए। हज़रत अनस (रज़ि॰) की रिवायत है—

कुछ लोग अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) की ख़िदमत में आए और कहने लगे, "ऐ अल्लाह के रसूल! ऐ वह कि हममें सबसे बेहतर और सबसे बेहतर के बेटे हो! और सरदार और सरदार के बेटे हो.....!"

बात पूरी होने से पहले ही नबी (सल्ल॰) ने बात काटते हुए कहा— "ऐ लोगो! अपनी आम बातें करो और तुम्हें शैतान बहका न दे। मैं मुहम्मद हूँ, अल्लाह का बन्दा और उसका रसूल। मुझे यह पसन्द नहीं कि तुम लोग मुझे उस दरजे से बढ़ाओ जो अल्लाह ने मुझे दिया है।" (हदीस : नसई)

देख लीजिए! कहनेवालों ने कोई हक़ीक़त के ख़िलाफ़ बात नहीं कही थी, कोई शिर्क नहीं किया था लेकिन प्यारे नबी (सल्ल॰) ने इससे भी रोका और इसे भी शैतान की घुसपैठ समझा, क्योंकि आप (सल्ल॰)

जानते थे कि हद से आगे बढ़ जाने का यह रुझान आदमी को कहाँ तक ले जाता है और हदों का ख़याल न रखते हुए बेतुके क़सीदे पढ़नेवाला मिज़ाज व ज़ेहन के किस असन्तुलन का शिकार हो जाता है।

हज़रत अमर (रज़ि॰) से रिवायत है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया –

> "देखो मुझे हद से न बढ़ाना जैसे ईसाइयों ने हज़रत ईसा (अलै॰) को हद से बढ़ा दिया। मैं सिर्फ़ अल्लाह का बन्दा हूँ। लिहाज़ा तुम मुझे अल्लाह का बन्दा और उसका रसूल कहो।" (हदीस : बुख़ारी, मुस्लिम)

मिश्कात में बुख़ारी के हवाले से एक हदीस लिखी है–

> "कुछ बच्चियाँ प्यारे नबी (सल्ल॰) के सामने आपस में कहने लगीं कि हमारे बड़े-बूढ़े बद्र की जंग में मारे गए। एक बच्ची ने कहा, "हम में एक ऐसा नबी है जो कल की बात जानता है।" इसपर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया, "यह बात छोड़ो और वही बातें करो जो तुम पहले कर रही थीं।"

यानी और बातें कहे-सुने जाओ। यह 'कल की बात जानने' वाली बात छोड़ दो। हालाँकि हो सकता था कि उस बच्ची ने यह जुमला इस मानी में बोला हो कि नबी (सल्ल॰) चूँकि मरने के बाद का हाल बता रहे हैं इसलिए मानो वे आनेवाले कल की बात बता रहे हैं। लेकिन चूँकि उस बच्ची के वे अल्फ़ाज़ नबी (सल्ल॰) को इल्मे-ग़ैब हासिल होने का वहम पैदा कर सकते थे, इसलिए आप (सल्ल॰) ने रोक दिया।

एक और मिसाल देखिए–

> अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) ने फ़रमाया– "क़सम अल्लाह की! मैं अल्लाह का रसूल होने के बावुजूद नहीं जानता कि मेरे साथ अल्लाह क्या मामला करेगा और तुम्हारे साथ क्या।" (हदीस : मिश्कात-बुख़ारी के हवाले से)

इतने ज़्यादा साफ़ अल्फ़ाज़ में बताने के बावुजूद क्या किसी मुसलमान के लिए यह मुमकिन रह जाता है कि वह अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के बारे में ग़ैब की बातें जाननेवाला, हर जगह हाज़िर व नाज़िर और किसी हैसियत में इनसान से बढ़कर कुछ और समझे?

अल्लाह फ़रमाता है—

"उसी (अल्लाह) के पास ग़ैब की कुंजियाँ हैं जिन्हें उसके सिवा कोई नहीं जानता।" (क़ुरआन, 6:59)

ये तो कुछ आयतें और हदीसें हैं। कुरआन व हदीस दोनों ही से यक़ीनी तौर पर मालूम होता है कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) न ग़ैब की बातें जाननेवाले थे, न अल्लाह की तरह हाज़िर-नाज़िर, न आप ख़ुद से मोजिज़ा दिखाने की क़ुदरत रखते थे, न आप अपने तौर पर किसी को सीधे रास्ते पर चलाने या किसी को नफ़ा या नुक़सान पहुँचाने या किसी के गुनाह माफ़ कर देने का इख़्तियार रखते थे। सब कुछ अल्लाह की तरफ़ से था। और जो शख़्स उन्हें ग़ैब की बातें जाननेवाला कहता हैं वह हज़रत आइशा (रज़ि॰) के कहने के मुताबिक़ बड़ा भारी बुहतान (झूठा इनज़ाम) लगाता है। (हदीस : बुख़ारी)

हदीस की सबसे मुस्तनद और मक़बूल किताबें बुख़ारी और मुस्लिम को उठाकर देखिए। आपको लिखा मिलेगा कि प्यारे नबी (सल्ल॰) इनसानों की तरह कभी भूलते भी थे। कुछ ख़बरों के इन्तिज़ार में भी रहते थे। सहाबा (रज़ि॰) से मशविरा भी करते थे। दुनियावी मामलों में आप (सल्ल॰) के ख़याल का कभी-कभार वह नतीजा नहीं निकला जो आप (सल्ल॰) समझ रहे थे। इसपर आप (सल्ल॰) ने सहाबा (रज़ि॰) से फ़रमाया— "तुम लोग अपने दुनियावी मामलात को ज़्यादा अच्छी तरह जानते हो!"

दीन में नई-नई बातें ईजाद करनेवालों की दीदा-दिलेरी की इन्तिहा है कि साफ़-साफ़ आयतों और हदीसों पर तो ध्यान नहीं देते और दूर-दूर की बातें ढूँढ़ कर लाते हैं। मसलन वह रिवायत उन्हें दिखाई पढ़ गई जिसमें प्यारे नबी (सल्ल॰) ने "अय्युकुम मिस्ली" (तुममें से मेरे जैसा कौन है) कहकर फ़रमाया है "लस्तु क-अहदुकुम" (मैं तुम जैसा नहीं हूँ)। बस फिर क्या था, सारी क़ुरआनी आयतें और सही व साफ़ हदीसें पीठ-पीछे डाल दी गई और कहा गया कि देखा नबी (सल्ल॰) ख़ुद फ़रमा रहे हैं कि मैं तुम जैसा नहीं हूँ। और इस "तुम जैसा न होने" का मतलब उनकी निगाह में यह हुआ कि अब जितनी चाहें ख़ुदाई

सिफ़तों और इनसानी हैसियत से बढ़कर क़ुदरतों और ताक़तों का मालिक प्यारे नबी (सल्ल॰) को मानते चले जाएँ। अगर उनसे कहा जाए कि इसका यह मुशरिकाना मतलब नहीं है बल्कि इसका मतलब यह है कि प्यारे नबी (सल्ल॰) न सिर्फ़ आख़िरत में सबसे बढ़कर दरजा रखते हैं बल्कि इनसानी क़ुव्वतों में भी आप (सल्ल॰) दूसरों से बेहतर और अलग हैं। इसी फ़र्क़ की तरफ़ आपने इशारा किया है और अल्लाह के ख़ास रसूल होने की वजह से आप (सल्ल॰) के साथ अल्लाह का मामला सबसे अलग होना भी चाहिए। तब ये कहेंगे कि नहीं साहब! आप ग़लत कहते हैं।

ख़ैर हमारी बात छोड़िए। क़ुरआन की आयत देखिए। अल्लाह सूरा अहज़ाब में उम्महातुल-मोमिनीन (रज़ि॰) को मुख़ातब करके फ़रमा रहा है—

"ऐ नबी की औरतो! तुम दूसरी औरतों की तरह नहीं हो।"
(क़ुरआन, 33:32)

अगर अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) के "लस्तु क-अहदुकुम" (मैं तुम जैसा नहीं हूँ) कहने का मतलब यही है कि अब आप (सल्ल॰) को इनसान से बढ़कर हर कुव्वत व क़ुदरत का मालिक ठहराया जा सकता है, तो आप (सल्ल॰) की पाक बीवियों के लिए भी (जो उम्मत के लिए माँ का दरजा रखती हैं) इसका दरवाज़ा खोल दीजिए। उसको भी ग़ैब का हाल जाननेवाली और हाज़िर व नाज़िर मानिए। वह तो हदीस ही थी, यह क़ुरआन है। अल्लाह हम सबको अपनी पनाह में रखे!

मैं और भी बहुत कुछ कहना चाहता था, लेकिन मज़मून लम्बा हो जाने के डर से रुक जाता हूँ। फिर भी जो कुछ मैंने कहा है, वही इतना काफ़ी है कि उस पर ख़ुलूस और दियानतदारी से ध्यान दिया जाए तो कितनी ही बुराइयों और ग़लत व बेबुनियाद अक़ीदों से बचा जा सकता है। मुझ नाचीज़ की नहीं, उस हक़ीक़ी बादशाह और ख़ालिक़ व मालिक की सुनिए जो फ़रमाता है कि—

"सीधा रख अपना मुँह सीधी राह पर। इससे पहले कि वह दिन आ पहुँचे जिसका टल जाना अल्लाह की तरफ़ से मुमकिन नहीं है।" (क़ुरआन, 30:43)

इमाम मालिक (रह॰) का क़ौल है कि इस उम्मत का आग़ाज़ (आरम्भ) जिस चीज़ से सँवरा है, उसी से इसका आख़िर (अन्त) भी सँवरेगा। आज के चौतरफ़ा बिगाड़ को सँवारना है तो अपने-अपने गरोही अक़ीदो और पक्षपातों को छोड़कर सहाबा (रज़ि॰) और ताबिईन के मुबारक दौर की तरह क़ुरआन व सुन्नत की तरफ़ आइए और क़ुरआन व सुन्नत ही को अक़ीदे व अमल की बुनियाद बनाइए!

बिदअत के बड़े नुक़सानात

आप इस्लाम की तारीख़ पर ग़ौर करें तो मालूम होगा कि मुसलमानों को अगरचे ग़ैर-मुस्लिम क़ौमों की तरफ़ से कई बार बहुत ज़्यादा नुक़सान पहुँचा है लेकिन ख़ुद 'इस्लाम' को उनसे बाल बराबर भी नुकसान नहीं पहुँचा। इस हक़ीक़त को आप उसी वक़्त ठीक तरह समझ सकेंगे जब आप अपने दिमाग़ से यह ग़लत ख़याल निकाल दें कि इस्लाम और मुसलमान एक ही चीज़ के दो नाम हैं, या अलग होने के बावजूद ये एक-दूसरे के नुमाइन्दे (प्रतिनिधि) या तर्जमान (प्रवक्ता) हैं। इस ग़लत ख़याल को कोई समझदार इनसान साफ़-साफ़ तो ज़ाहिर नहीं कर सकता, लेकिन अमली तौर पर देखा जा रहा है कि मुद्दत से आम लोगों में इन दोनों के मक़ाम व मनसब और हक़ीक़ी फ़र्क़ का सही अन्दाज़ा नहीं है। यहाँ तक कि कुछ पढ़े– लिखे लोग भी अपनी तहरीरों में ऐसी बातें लिख जाते हैं मानो इस्लाम क़ुरआन व सुन्नत और इज्माअ व क़ियास तक महदूद नहीं है, बल्कि कुछ नेक और परहेज़गार लोगों की ज़ाती दिलचस्पियाँ और आदतें भी उसका लाज़िमी हिस्सा हैं। या यह कि कोई इबादत गुज़ार व परहेज़गार शख़्स अगर कुछ आमाल कर गया है, तो देखे बिना कि वे अमल क़ुरआन व हदीस की तालीमात के मुताबिक़ थे या नहीं, उन्हें इस्लाम की तर्जमानी और नुमाइन्दगी के लिए पेश किया जा सकता है। या अगर किसी मुसलमान बादशाह ने कुछ इस्लामी क़ानून चलाए तो उसकी हुकूमत के तमाम क़ानूनों और उनके अपनाए हुए तमाम तरीक़ों को क़ुरआन व हदीस की तालीमात से जाँचे बिना इस्लामी कहा जा सकता है। इस ग़लत ख़याल को आम करने में

उस सियासी इस्तिलाह (राजनीतिक परिभाषा) का भी हाथ है जो मुसलमानों की हर सल्तनत को 'इस्लामी सल्तनत' कह देने की शक्ल में आम हुई। बहरहाल यह ध्यान रखना ज़रूरी है कि इस्लाम अलग चीज़ है और मुसलमान अलग। इस्लाम एक निज़ामे-हयात (जीवन-व्यवस्था) और ज़िन्दगी का दस्तूर (क़ानून) है जो क़ुरआन व हदीस और उनकी उसूली तालीमात की बुनियाद पर लिखी गई मुस्तनद (प्रामाणिक) किताबों में लिखा है। और मुसलमान वह है जिसने इस निज़ाम व दस्तूर पर ईमान लाने का दावा किया है। यह दावा करनेवाला अगर इस ईमान के तक़ाज़े पूरे करने में कोताही करता है और जो बातें व काम इस दस्तूर में जुर्म व गुनाह के ख़ाने में लिखे हैं, उन्हें अपना लेता है, तो यह क़ुसूर ख़ुद उसका है और सिर्फ़ इस बुनियाद पर कि वह इस्लाम क़बूल करने का दावेदार है, उसके जुर्म व गुनाह को नेकी और भलाई के ख़ाने में नहीं लिखा जाएगा।

यह सीधी सी बात समझ लेने के बाद यह जानना बिल्कुल आसान है कि ग़ैर-मुस्लिमों ने मुसलमानों पर जो हमले किए, उनकी हुकूमतें छीनीं, जान-माल बरबाद किए और उनपर तरह-तरह के ज़ुल्म किए तो बेशक वह मुसलमानों का नुक़सान था, लेकिन ख़ुद इस्लाम पर इसकी चोट नहीं पड़ी, इस्लाम का नुक़सान तो यह होता अगर ग़ैर-मुस्लिम इस्लाम के उसूलों या दूसरे छोटे-छोटे मसाइल में कुछ ग़ैर-इस्लामी नज़रियात व ख़यालात इस तरह गडमड कर देते कि उन्हें इस्लामी दस्तूर से अलग ही न किया जा सकता, और जिस तरह दूसरे अहले-किताब (यहूदियों व ईसाइयों) की मज़हबी किताबों में सही व ग़लत बातें इस तरह मिला दी गई हैं कि उनमें से सही और ग़लत को अलग-अलग करना मुमकिन ही नहीं रहा, ऐसा ही या इससे कुछ कम हाल इस्लाम का भी हो जाता। लेकिन इस्लाम के दुश्मन ऐसी कोई ख़राबी पैदा न कर सके। और इसकी वजह यह थी कि इस्लामी मिज़ाज सीधे-सीधे ग़ैर-मुस्लिमों से कोई नज़रिया और उसूल क़बूल करने को तैयार न था, वहीं एक वजह यह भी थी कि इस्लामी इल्म के माहिरों व मुजाहिदों ने इस्लामी दस्तूर को तैयार करने और उसकी हिफ़ाज़त के इतने मज़बूत

और ठोस तरीक़े अपनाए थे कि किसी ग़ैर-मुस्लिम क़ौम के लिए उनको बिगाड़ना मुमकिन ही न था!

हाँ, नुक़सान अगर इस्लाम को पहुँचा है तो या तो उन मुसलमानों से जिन्होंने अपनी क़ाबिलियत की धाक बिठाने के शौक़ में अजमी फ़लसफ़ा, सोचने का ढंग, रुझान व मिज़ाज, स्टाइल, आइडियालोजी और हद से आगे बढ़ जाने के रुझान को इस्लाम में ला घुसाया। ये लोग न सिर्फ़ मुसलमान थे बल्कि बहुत-से इनमें इबादत-गुज़ार, आलिम और जुब्बा व दस्तार (पगड़ी) वाले भी थे। और सच तो यह है कि उनकी अक़्ली बहसों से इस्लाम को कितने ही मौक़ों पर फ़ायदा भी पहुँचा और मुसलमान उनकी वजह से बातिल-परस्तों (असत्यवादियों) के मुक़ाबले में कामयाब भी हुए। लेकिन साथ ही कुछ ग़ैर-इस्लामी नज़रियात, बारीकियाँ और तरीक़े उनके ज़रीए से इस्लाम में इस तरह घुस आए कि वह ज़्यादातर मुसलमानों की निगाह में इस्लामी ही ठहरे और उनके असरात दीन की जड़ों में फैलते चले गए।

या फिर इस्लाम को नुक़सान उन लोगों से पहुँचा है जो इल्म व अमल के एतिबार से काफ़ी अच्छे थे, मगर उन्होंने अपने मिज़ाज, अपनी तबीयत और अपने उस इज्तिहाद के तहत, जिसमें इल्मी लिहाज़ से कई ऐब थे, नई इबादतें निकालीं। बन्दगी के नए तरीक़े बनाए। दीन की शक्ल के कुछ मामूलात अपनाए। ये लोग चूँकि अमली तौर पर नेक, इबादत-गुज़ार और परहेज़गार थे इसलिए आम लोगों ने इनकी निकाली हुई बिदअतों को दीन समझकर क़बूल कर लिया और बहुत-से उन ख़वास (पढ़े-लिखे समझदार लोगों) ने भी उन्हें क़बूल किया जो या तो क़ुरआन व सुन्नत का गहरा इल्म न रखते थे या इनके दिल में उन लोगों के लिए ख़ुसूसी अक़ीदत थी। बहरहाल बिदअतें चलीं और जैसा कि नफ़्सियात (इनसानी फ़ितरत) का तक़ाज़ा है लोगों ने उनमें से नए-नए तरीक़े और रास्ते निकाले। बिदअत जो इस्लाम की निगाह में क़ानून तोड़ने और बग़ावत करने जैसी चीज़ है, अपना मिज़ाज भी जुर्मों जैसा रखती है। एक जुर्म करने के बाद इनसान दूसरा जुर्म भी पहले के मुक़ाबले आसानी से और तीसरा पूरी ढिठाई से करने पर तैयार हो

जाता है। इसी तरह एक बिदअत अपनाने के बाद दूसरी और तीसरी और चौथी की तरफ़ क़दम बढ़ाना आम लोगों और कुछ ख़वास के लिए आसान हो जाता है। शैतान की धोखेबाज़ी एक तरफ़, बेअमली बल्कि बदअमली के बुरे असरात दूसरी तरफ़, उसपर से इल्म की कमी और अजमी माहौल व तहज़ीब ने तो मानो सोने पर सुहागे का काम किया। नतीजा वही हुआ जो आज सब के सामने है। मुसलमानों ने इस्लाम ही के नाम पर गुमराही को सीनों से लगाया। अंधेरे को उजाला समझा। साँप को मछली समझा।

अस्ल बात यह है कि जिन मुतकल्लिमीन (अपनी बहसों से दीन में ग़ैर-ज़रूरी बारीकियाँ निकालनेवालों) का मैंने इशारतन ज़िक्र किया, उनके पहुँचाए हुए नुक़सान के मुक़ाबले में बिदअतें निकालनेवालों का पहुँचाया हुआ नुक़सान बहुत ज़्यादा था। बल्कि गहराई में जाइए तो मुतकल्लिमीन के ग़ैर-इस्लामी नज़रियात व बहसें भी बिदअत ही की क़िस्म से हैं। ज़्यादा-से-ज़्यादा उनके साथ 'इल्मी' का लफ़्ज़ बढ़ा दीजिए। यानी 'इल्मी बिदअत'। हासिल यह कि इल्मी बिदअत के अलमबरदारों का नुक़सान तो फैलाव में कम रहा क्योंकि बारीक और आलिमाना मसाइल से उसका ताल्लुक़ था और उलमा के तबक़े में ऐसे लोगों की कमी न थी जो तजज़िया और तनक़ीद के ज़रीए से जाँच-परखकर ग़लत और सही, इस्लामी और ग़ैर-इस्लामी को अलग-अलग करके दिखा सकें। लेकिन बिदअतें गढ़नेवालों का नुक़सान चढ़ते हुए दरिया की तरह फैला। क्योंकि अवाम भेड़ चाल के आदी होते हैं और उनकी कम समझ-बूझ पर अक़ीदत व नियाज़मन्दी पूरी तरह छा जाती है, जिसके बाद दलील और इल्म की क़ुव्वत बहुत मुश्किल से, बहुत देर में उनपर असर करती है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि अमली तौर से फैली हुई बिदअतों की ज़्यादती और बिदअतों की तालीम देनेवाली किताबों के फैलाव ने इस्लामी क़ानूनों में इस तरह बिदअतों को मिला दिया कि सही और ग़लत का अलग करना मुश्किल हो गया। यह इसलिए नहीं हुआ कि क़ुरआन व हदीस को मिटा देना किसी के बस की बात नहीं थी और नेक बुज़ुर्गों ने इल्म व फ़न और इज्तिहाद व दीनी समझ का जो आईना

अपने बाद आनेवाली नस्लों को दिखाया वह पूरी तरह साफ़ और बहुत मज़बूत था। मगर उस आईने से फ़ायदा उठाना और क़ुरआन व सुन्नत को अमल के लिए कसौटी बनाना गिने चुने ख़वास ही का काम हो सकता है। बाक़ी उम्मत बिदअत का शिकार बन गई। जिन्हें दीन की कुछ समझ थी, वे कम बिगड़े, जो दीन की बिल्कुल भी समझ नहीं रखते थे, वे ज़्यादा बिगड़ गए। इस बिगाड़ का एक बड़ा नुक़सान तो यह हुआ कि इस्लाम की तहरीक और दीन को क़ायम करने की दावत नबियों (अलै०) और सहाबा (रज़ि०) के हिम्मत व हौसले भरे रास्ते पर चलने की जगह उन ग़लत राहों पर मुड़ गई जिनमें रहबानियत (संयास), तक़श्शुफ़ (जान-बूझकर ख़ुद को मुशकिलों में डालना) बेकार के शोर-शराबे और फ़ुज़ूल रस्मों की भरमार है। बिदअतों ने सुन्नतों को निगल लिया। दिखावे नें ख़ुलूस को खा लिया। दीने-इस्लाम हौस्लामन्दी और जिहाद के मैदान से सिमटकर बारगाहों, ख़ानक़ाहों, क़ब्रों और महफ़िलों में आ गया।

दूसरा बड़ा नुक़सान यह हुआ कि ग़ैर-मुस्लिम क़ौमों की राय इस्लाम के बारे में बिगड़ती चली गई और जो कशिश उसके उसूलों व अहकाम में थी और जिसकी वजह से इस्लाम हैरतअंगेज़ रफ़्तार से फैला था, वह न सिर्फ़ ख़त्म हो गई बल्कि उसकी जगह, शिर्क व बिदअत की मिलावट की वजह से उन्हें इस्लाम की तालीमात भद्दी और भोंडी लगने लगीं। ज़ाहिर है कि दूसरी क़ौमों के अवाम को इतनी फ़ुर्सत कहाँ और उनमें इतनी क़ाबिलियत कहाँ कि वे सीधे-सीधे क़ुरआन व सुन्नत और दीन की मुस्तनद (प्रामाणिक) किताबों से सही इस्लाम को समझने की कोशिश करें, और क्यों करें? दुनिया का हमेशा यह क़ाइदा रहा है कि किसी क़ौम के मज़हबी अक़ीदों और उसूलों का अन्दाज़ा उसके उन आमाल से लगाती है जो उस क़ौम में मज़हबी रस्मों के तौर पर अपनाए गए हों। और अक़ीदे व उसूल होते भी हक़ीक़त में इसी लिए हैं कि वे आमाल के ज़रीए से ज़ाहिर हों। दुनिया ने जब उर्सों, क़व्वालियों, क़ब्रपरस्तियों, दरगाहें बनाने और इसी तरह की कई चीज़ों को मुसलमानों में दीनी हैसियत से अपनाया हुआ पाया तो यह समझ लिया

कि यह सब इस्लाम ही के अहकाम व उसूलों पर अमल हो रहा है और उनके इस गुमान व ख़याल को इस बात से और बल मिला कि जो लोग इन आमाल में मुब्तला थे, वे अपनी ज़बान से इस बात के दावेदार भी थे कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं वह ठीक इस्लाम के मुताबिक़ है और उनमें से बहुतों का ज़ाहिरी हाल भी ऐसा था कि कम-समझ लोग उन्हें इस्लाम का तर्जमान समझने पर क़ुदरती तौर पर मजबूर थे। चुनाँचे ख़ुद इस्लाम के बारे में दुनिया को ग़लत-फ़हमियाँ हुईं और वह ख़ालिस तौहीद और पाक-साफ़ तालीम जो लोगों को इस्लाम की तरफ़ खींचने का सबब थी, शिर्क व बिदअत की बदसूरती और गन्दगी में दब गई। उसकी शान-शौकत, वक़ार, पाकीज़गी और दूसरों को अपनी तरफ़ ख़ींचने की ख़ूबी को ज़बरदस्त नुक़्सान पहुँचा।

मैं मानता हूँ कि इस्लाम के फैलाव और उसके प्रचार-प्रसार के रुक जाने में बहुत बड़ा हाथ ख़ुद मुसलमानों की बदआमालियों और ग़लत कोशिशों का भी है लेकिन जो बुरे काम मुसलमानों ने दीन की आड़ लेकर नहीं बल्कि ख़ालिस दुनियादारी के तौर पर किए, उनसे दूसरी क़ौमों की राएँ ख़ुद मसलमानों के बारे में चाहे कितनी ही ख़राब हो गई हों, मगर ख़ुद इस्लाम के बारे में वैचारिक रूप से उन्हें बदगुमानियाँ नहीं हुई। क्योंकि उन्हें ये बातें मालूम थीं कि यह इस्लाम की बुराइयाँ नहीं, मुसलमानों के अपने करतूत हैं। इन बुराइयों का ज़िम्मेदार इस्लाम नहीं, बल्कि ख़ुद मुसलमान हैं। इसके विपरीत दीन के नाम पर अल्लाह की इबादत व फ़रमाँबरदारी के रंग में की जानेवाली बुराइयों ने उन्हें ख़ुद इस्लाम ही से बदगुमान कर दिया और इस्लाम से उनकी दूरी सिर्फ़ तास्सुब और जज़्बाती दुश्मनी के तहत नहीं रह गई बल्कि इस दूरी के लिए उन्हें अक़्ली व शऊरी दलीलें भी मिल गईं।

दूसरी क़ौमों के अलावा ख़ुद मुसलमानों ही के अक़ीदों और नज़रियों को बिदअतों ने इस तरह बिगाड़ा कि बेचारे कम-इल्म अवाम के मुख़लिस लोग अगर ख़ुलूस और ईमानदारी के साथ इस्लाम के हुक्मों पर अमल करने को तैयार हुए तो उनकी सलाहियत के मुताबिक़ जो लिट्रेचर उनके हाथ आया उसमें पहले ही से सही के साथ ग़लत और इस्लाम के साथ बिदअत की मिलावट थी और जो वअ़्ज़ और दीनी

तक़रीरें मस्जिदों के मेहराब व मिम्बरों से उन्हें सुनाई गईं उनमें भी बिदअत की तालीम किसी न किसी हद तक मौजूद थी। अब इन बेचारों के पास यह क़ाबिलियत कहाँ कि जाँच-परखकर के इस्लाम और ग़ैर-इस्लाम को अलग कर सकें। भोलेपन और ख़ुलूस के साथ सही और ग़लत को क़बूल करते चले गए और बिदअत का ज़हर उनके दिल व दिमाग़, मिज़ाज और आमाल में फैलता चला गया।

'रिया' यानी दिखावा के बारे में आप जान चुके हैं कि अल्लाह के रसूल (सल्ल॰) नें इसको शिर्क के ख़ाने में रखा है। बिदअत अपनी फ़ितरत और मिज़ाज के एतिबार से दिखावा, शोहरत और महफ़िलें सजाने को पसन्द करती है। ये चीज़ें 'रिया' ही की मुख़्तलिफ़ शक्लें हैं। यानी बिदअत की फ़ितरत में शिर्क है जो शुरू में छिपा शिर्क होता है और फिर बहुत ही जल्दी खुले शिर्क तक पहुँच जाता है। बिदअत के पेड़ के पत्ते और फल देखिए। सूरत और सीरत दोनों एतिबार से उन्हें शिर्क कहना बिल्कुल दुरुस्त मालूम होगा।

शरीअत की तरफ़ से बुरे और हराम ठहराए गए कामों को करनेवाला मुसलमान तो मुमकिन है कि किसी वक़्त तौबा व इस्तिग़फ़ार भी कर ले, क्योंकि वह बहरहाल गुनाह को गुनाह समझ रहा है और उसके अक़ीदे ख़राब नहीं हुए। मगर बिदअत-पसन्दों के लिए तौबा का इमकान भी कम है, क्योंकि वे जिस गुमराही में मुब्तला हैं वह तो उनकी नज़र में पूरी तरह हिदायत है और उनके अक़ीदे बुरी तरह ख़राब हो चुके हैं।

> "ऐ अल्लाह हम सब की हिफ़ाज़त फ़रमा, और सलामती हो उसपर जो हिदायत की पैरवी करे। और रहमत और सलामती हो नबियों के सरदार (सल्ल॰) पर।"

और आख़िर में अल्लाह, सारे जहान के रब, की तारीफ़ के साथ हम अपनी बात ख़त्म करते हैं।